



संत मंगतराम की वाणी में ब्रह्म का संकल्प

प्रस्तुत शोधपत्र में संत मंगतराम की वाणी में ब्रह्म के संकल्पों का विस्तार से अध्ययन किया गया है। मंगतरामजी की वाणी से सदा स्पष्ट होता है कि वे ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही महत्व देते हैं। उनकी प्रार्थना में बार-बार चरण-कंवल, वन्दना आदि शब्दों में सगुण का भ्रम होता है, लेकिन यह मात्र भ्रम ही है। इस शंका का निवारण वे स्वयं करते हुए कहते हैं कि प्रेमी अंदर जो सत्स्वरूप विराजमान है, जिसको तुम अभ्यास और सिमरण करते-करते अनुभव करोगे, उसको आदर भाव लिए हुए अपने आपको समर्पण करने की भावना से जो कहा जाता है, उसको चरण-कंवल की तशबीह (उपमा) देकर समझाया गया है। परमात्मा का सिर तो आज तक किसी ने देखा नहीं, तो चरण कंवल कहाँ से होंगे? यह एक नम्रता का भाव है कि उस महान सत्ता के सामने अपने आपको झुका देना। जब जीवन झुकता है, तब चरण की तरफ ही पहले दृष्टि जाती है। इसलिए भगवान के प्रति जो कुछी विचार प्राणी प्रकट करते हैं, वे केवल आदर के भाव को लेते हुए चरण-कंवल के नाम से कहे गए हैं।

डॉ. विनोद कुमार

जितने भी संत एवं भक्त कवि, आलोचक तथा दर्शनशास्त्र के विद्वान हुए हैं, सभी ने अपने-अपने ढंग से इस सृष्टि और सृष्टिकर्ता सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किए हैं। ब्रह्म की संकल्पना के समय किसी ने उसे सगुण-साकार तो किसी ने उसे निर्गुण-निराकार बताया है। जिसको जैसा अनुभव हुआ उसी के अनुसार सभी ने उसे विविध नाम भी प्रदान किए हैं। संत मंगतराम जी की वाणी में जिस परम पुरुष यानि ब्रह्म तत्व का उल्लेख मिलता है, उसके बारे में रामचन्द्र तिवारी की कबीर के राम के सम्बन्ध में कही गई उक्ति बहुत हद तक संगत दीख पड़ती है। उनका कहना है कि "कबीर के निर्गुण राम के स्वरूप की व्याख्या करने से पहले हमें कबीर की सीमाओं पर विचार कर लेना चाहिए। कबीर की सबसे बड़ी सीमा यह है कि जिस भाषा के माध्यम से वे अपने अनुभूत सत्य को व्यक्त करना चाहते थे, वह उन्हें परम्परा से, धर्म-चेतना के वाहक, योगियों, वैष्णवों, सूफियों, पण्डितों, सिद्धों और मुल्ला-मौलवियों से प्राप्त हुई थी। वे हमें नया स्वर, नया तेवर और नई भंगिमा, नई प्रखरता, नया विश्वास दे सकते थे, किन्तु उसमें निहित अर्थ संस्कार को सहसा बदलना उनके बस की बात नहीं थी।⁽¹⁾ क्योंकि यह शब्दावली सिर्फ संसार जो कि दृश्यमान है, कि ही अभिव्यक्ति दे सकती है, जबकि वह ब्रह्म सर्वातीत है। उसे इस भाषा में अभिव्यक्ति दे पाना संभव ही नहीं है।

संत मंगतराम जी का कथन है कि इन्द्रियों द्वारा जिस हालत का बोध न हो सके, और जो मन-बुद्धि से परे हो, ऐसे परम तत्व के बाबत कोई जवान द्वारा क्या बयान करे? जो केवल अनुभव मात्र का विषय है, उसे कैसे समझा जा सकता है।⁽²⁾

मंगतराम जी की वाणी में ब्रह्मतत्व का जो रूप स्पष्ट होता है, उसे निम्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत बांट कर देखा जा सकता है :

(1) ब्रह्म एक नाम अनेक, (2) अक्षर ब्रह्म, शब्द ब्रह्म, नाद ब्रह्म, (3) सर्वव्यापक, (4) निर्गुण और सगुण।

ब्रह्म एक नाम अनेक :

संत मंगतराम जी की स्पष्ट मान्यता है कि वह परमतत्व ब्रह्म केवल नादरूप में विद्यमान है। सारी प्रकृति में समायोजित हुआ है। जिसका असित्व बिना किसी आकार या रूपरेखा के है। वह अलख पुरुष सबके अन्तर में है। वैसे तो वह अनामी है, लेकिन जैसी महिमा विचार में आई वैसे ही नाम उसे दे दिया गया। मंगतराम जी ने भी अपनी वाणी में अनेक नामों से ब्रह्मतत्व को संज्ञित किया है। 'सतनाम की असलियत' खण्ड में इसके नाम तथा कारणों पर भी प्रकाश डाला है। उनकी मान्यता है कि सत्य को मन में धारण करके जो भी नाम लिखा जाए, वही नाम उस परमेश्वर का हो जाता है। वे अपने ईश्वर को निरंजन, निरंकार, आलख, गोपाल, अद्वैत, पारब्रह्म, आतम, दीनदयाल, अनाशी, ठाकर, राम, गरबप्रहरी, पतित-पावन, अवगत, अकाल, अल्लाह, जब्बार, खालिक, ताला, हूत, अच्छर, निर्वान, शूनियंगकार, सनातन, अखण्ड सरूप, परमेश्वर, ज्ञान, विष्णु, अजन्मा, अगोचर, अगम-आगाध, सरजनहार, अध्यात्म, भगवन्त, साखी पुरुष, आदी-यज्ञ, ओंकार, मुरारी, प्रभु, समष्ट, निश्चल, अडोल, निरालम, विधाता, विश्वम्बर, सचखण्ड, गोबिन्द, विराट, अखण्ड स्वामी कह कर सम्बोधित करते हैं। उनका कथन है कि उस नादसरूप ब्रह्म के अनेक नाम हैं, किसी भी नाम से पुकारा जाए, वही रूप हो जाता है :

साजन सिमरो नाद को, जो धरे नाम अनन्त।

'मंगत' जिस घर परगासिया, भयो भरम भसमन्त।⁽³⁾

संत मंगतराम जी के द्वारा प्रयुक्त सभी नामों की सार्थकता भी प्रमाणित की गई है। वे कहते हैं कि चूंकि उसका आदि और अन्त

लवली प्रोफेशन यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा (पंजाब)

नहीं देखा जा सकता, इसलिए उसे 'अलख' कहा जाता है। सभी जीवों की पालना करने वाला है, सो 'गोपाल' नाम बना, सर्वदा—सर्वदा एक हैं जहां दो का प्रश्न ही नहीं है सो 'अद्वैत' बना, सभी में रहता हुआ भी अलेप है। तभी 'पारगामी' नाम हुआ। चराचर भूत का स्वामी होने से 'ठाकर' नाम धरा, चारखानी में समरूप से विराजमान प्रकाशित होने से 'राम' नाम से अभिहित हुआ।

वही सभी कालों का काल होने से 'अकाल' नाम से पुकारा गया, केवल एक होने, दूजा शरीक न होने से 'अल्लाह' नाम धरा गया। सभी गुनाहों और ऐबों से दूर होने से 'ताला' नाम से जाना गया। नश्वर दुनिया से मुक्त होने के कारण 'हूत' नाम से पुकारा गया है।⁽⁴⁾

मंगतराम जी कहते हैं कि उस परमपिता के अनन्त नाम हैं, जिसके चित्त में जो अच्छा लगे वही कल्याण देने वाला है :

**अनन्त नाम तिस पुरुष के, सभी जान परमान।
'मंगत' जो चित्त में रमें, सो ही देवे कल्याण।।**⁽⁵⁾

अक्षर ब्रह्म, शब्द ब्रह्म, नाद ब्रह्म :

मंगतराम जी के अनुसार वह परम तत्व ब्रह्म अक्षररूप है, जो वास्तव में ओंकार शब्द ही है। उनकी धारणा है कि ओम अक्षर ही सबसे ऊपर है, जिसने संसार की रचना की है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, तीनों नित ही इसी ओम का ध्यान करते हैं।⁽⁶⁾

ब्रह्म के लिए ओम अथवा ओंकार शब्द का प्रयोग उपनिषदों में प्रायः मिल जाता है। ओमिते ब्रह्म, ओमित्येतदक्षरमिदं, अथवा सर्वओंकार कई बार देखे गये हैं। ब्रह्मोपनिषद के 16 वें श्लोक में कहा गया है—एको देवरु सर्वभूतेषु गूढरु सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। इस अक्षर ब्रह्म की महिमा गिनी नहीं जा सकती। कितने ही वेद, पुराण तथा किताबें लिखी जा चुकी हैं, लेकिन उसकी पूर्णता को बखान नहीं किया जा सकता। संसार की सभी सिद्धियां तथा पूर्ण ज्ञान एक अक्षर में ही समाया हुआ है। जब जीव इस अक्षर के भेद को जान लेता है, तब वह सत् पद को प्राप्त हो जाता है। श्री समता प्रकाश, पृ. 540, अपने जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करते हुए वे कहते हैं कि जो जीव स्वयं शब्द रूपी नारायण को मान्यता देते हुए कहते हैं कि जो जीव अहं रूपी अंधकार का त्यागकर समता भाव में स्थित हो जाता है, वह शब्द सरूप नारायण में लीन हो जाता है।⁽⁷⁾ और जैसे ही सत् शब्द रूपी नारायण को पहचान कर लीन होता है, तैसे ही सभी काल रूपी जाल नष्ट हो जाते हैं।

**सत शब्द पहचानया, काल जाल भयो नास।
'मंगत' आनन्द पाया, सतरूप मिला अवनस।।**⁽⁸⁾

यही कारण है कि मंगतराम जी सर्वदा शब्द रूपी ब्रह्म अथवा नाद ब्रह्म को आराधने की बात करते हैं। उनका कहना है कि शब्दरूपी ब्रह्म को पहचानकर अभिमानी जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

इसी ब्रह्मतत्त्व को कभी नादरूप भी कहते हैं और जीव को उपदेश देते हैं कि सदा उस नाद का ध्यान करो :

**पूरन तिनके भाग भये, जिन घट सूझा नाद।
'मंगत' निर्मल ध्यान में मिट गयो सब परमाद।।**⁽⁹⁾

सर्वव्यापक, सर्वसमथ :

मंगतराम जी का ब्रह्म न सिर्फ निर्गुण है और न सिर्फ सगुण। वह हर घड़ी, हर जगह किसी न किसी रूप में हो सकता है। वह

सर्वव्यापक तथा सर्व समर्थवान है। सृष्टि का कण—कण उसी की छाया है। जड़ हो या चेतन सभी कुछ उसी की शक्ति का अंश है। वह शब्द रूप में घट—घट में व्याप्त हो रहा है और अन्दर—बाहर रमा हुआ है लेकिन उसे देखने, अनुभव करने के लिए योग की जुगत की जरूरत है :

**'अलख अहादी रम रहा अन्दर—बाहर मीत।
बिन सत जुगती योग की, कभी ना होए परतीत।**⁽¹⁰⁾

उसी परमतत्व का प्रकाश प्रत्येक शरीर में प्रकाशित है फिर भी वह देह के विकारों से अलग रहता है। मंगतराम जी जीव को उस घट—घट वासी परमेश्वर का सिमरण करने की शिक्षा देते हैं। उनका कहना है कि वह परम पुरुष परमात्मा गुप्त रूप से सभी में छिपा रहता है। जो सतगुर की पा से प्रत्यक्ष हो सकता है। जिस प्रकार दूध में मक्खन, फूल में सुगन्ध, मेंहदी में रंग तथा काठ में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा भी प्रत्येक वस्तु के अन्दर समाया हुआ है :

**छीर मांही ज्यों घिरत समाई। बिना मंथन के हाथ ना आई।
फूल मांही ज्यों सुगन्धी बासा। मेंहदी में ज्यों रंग निवासा।
काठ मांही ज्यों अगन रहाई। एह विष ठाकर घट रह्यो समाई।**⁽¹¹⁾

वह परम पुरुष परमात्मा अन्दर—बाहर रहते हुए सभी के सभी प्रकार के कष्ट और क्लेष मिटाने में समर्थ हैं। अनहोनी को भी होनी में बदल सकते हैं।⁽¹²⁾

संत मंगतराम जी फरमाते हैं कि वह परतत्व असंभव को भी संभव बना सकता है। प्रकृति की आश्चर्यजनक घटनाओं का जन्मदाता वही है। यदि वह चाहे तो कुछ भी कर सकता है। उसकी ही शक्ति से सूखे वृक्ष फलों से लद जाते हैं, पत्थरों में जीव—जन्तु जीवित रहते हैं, सूखे सरोवर जल से पूर्ण हो जाते हैं। अपंग पर्वत चढ़ जाता है। उसी की शक्ति से गूंगा कथा बखान करने लगता है। उसकी शक्ति के उदाहरण गिने नहीं जा सकते, सृष्टि में अनेक आश्चर्य भरे पड़े हैं।⁽¹³⁾

निर्गुण और सगुण :

जिस ब्रह्म की महिमा का बखान वेद—पुराण और अनन्य ग्रन्थ करते हैं, उसका वास्तविक रूप क्या है? यह प्रश्न सदैव रहा है। एक तरफ वे भक्त हैं, जो उसे सगुण—साकार रूप में स्वीकार करते हैं।

तरह तरह से उसकी पूजा—अर्चना करते हैं। उसका श्रृंगार करते हैं, उसकी कृपा छाया की समीपता चाहते हैं, तो दूसरी तरफ संत जन हैं, जो उसे किसी आकार या चौखटे में बांधकर नहीं देखते, बल्कि उसे निर्गुण—निराकार रूप को ही मानते हैं।

संत मंगतराम जी की वाणी में सर्वत्र उस परमतत्व को निरंकार रूप से ही समझा गया है। उनका ब्रह्म निरंकार, अजन्मा तथा अद्वैत पुरुष है। उनकी धारणा है कि जो शक्ति सकल संसार का आधार है, उसे नियमित करने वाली, उसे बनाने वाली और मिटाने वाली है, उसे किस तरह एक आकार में बांधा जा सकता है। वह सदा तीन काल सरूप है, तो उसे नश्वर शरीर के रूप में मान लेना कैसे मुमकिन है। अपने प्रभु की प्रार्थना करते हुए उन्होंने उसे आद—जुगादि, निरंजन कहकर सम्बोधित किया है। वे अपने ईश्वर को सभी को देने वाला, अखण्ड तथा अविनाशी कहते हैं, सर्वदा निरंकार है :

**तू साजनसरब दातारी। नित ही चरन जाऊं बलिहारी।
पार ब्रह्म अखण्ड आपार। शुद्ध सरूप तू ही निरंकार।⁽¹⁴⁾**

मंगतराम जी ने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है कि भगवान अजन्मा हैं, निराकार हैं, उसकी कोई रूपरेखा या आकार नहीं है। यही धारणा उन्होंने सभी जीवों में दृढ़ करने की बात की है। उनके समता धर्म का मूल आधार, उसके द्वारा प्रदत्त महामन्त्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जिसमें कहा गया है कि वह एक ओंकार निरंकार, अजन्मा अद्वैतपुरुषा, सर्वव्यापक और कल्याणमूर्त है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि वह तीनों गुणों से परे है, मोक्ष का दाता है। जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है वह माया का विकार है, लेकिन वह अजन्मा होने के कारण इससे इतर है।⁽¹⁵⁾

मंगतराम जी का ब्रह्म ऐसा है, जैसा कबीर आदि संतों के द्वारा व्यक्त किया गया है, लेकिन यह कहना गलत और असंगत होगा कि मंगतराम जी ने भगवान के सगुण रूप का खण्डन किया है और केवल निर्गुण रूप की ही प्रतिष्ठा की है। वाणी में उनकी मान्यता एवं दृष्टिकोण की उच्चता का बोध स्पष्ट हो जाता है। मंगतराम जी न तो कोरे निर्गुणवादी हैं और न ही सगुणवादी, उनका ब्रह्म तो इन दोनों से ही भिन्न है और अभिन्न भी। उनके अनुसार निर्गुण और सगुण रूप में मानना केवल जीव की अपनी समझ और दृष्टि भेद के कारण है। उसे चाहिए कि निर्गुण और सगुण के द्वन्द्व में न फंसे, बल्कि एक ही शक्ति के दो रूप माने। निर्गुण में सगुण की कल्पना करे और सगुण में निर्गुण की पहचान करे। यदि सगुण शरीर है, तो निर्गुण जीवन शक्ति है। दोनों ही के मेल से संसार-चक्र चलता है।⁽¹⁶⁾

जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का शमन करते हुए तथा सगुणता और निर्गुणता के भ्रम का निवारण करते हुए मंगतराम जी का कथन है कि प्रेमी, परमात्मा कोकर्ता व्यापक और प्रेरक समझना और इस संसार के जर्रे-जर्रे (कण-कण) में उसकी महानता को देखना और उसकी आराधना करना, यथाशक्ति आवश्यकतानुसार प्राणियों की सेवा करना- इन सबमें परमात्मा को ही जानना- यह उसकी सगुण पूजा है। परमात्मा को अकर्ता, अलेप और असंग समझना और नित्य और निरन्तर ध्यान-मग्न होकर इन ही भावों का चिन्तन करना उसकी निर्गुण पूजा है।⁽¹⁷⁾ निर्गुण सगुण एक-दूसरे के पूरक हैं। उस अवगत रूप की कला दो रूपों में प्रकाशित हुई है। एक कारण तो दूसरा कारज है। दोनों पिनहारी हैं, जिसमें एक पिवनहारी तथा दूसरी पिलाने वाली है :

**निरगुन सरगुन दोनों पिनहारी।
एक पिवावे एक पीवन हारी।
अवगत रूप से दो कला परगासे।
एक कारन एक कारज भासे।।⁽¹⁸⁾**

मंगतराम जी फरमाते हैं कि वह परमशक्ति स्वरूपा नारी अगम्य देश से आई है। जिसने निर्गुण-सगुण का पान कराया है। वह नारी बिना मुख व शरीर के है। केवल संतजन ही उसे पहचान सकते हैं। वह बिना मुख के अकथ कथा कथती है। बिना आंखों के देख सकती है, बिना चरणों के चल सकती है। सभी के अन्दर समाए हुए है लेकिन कोई भी उसे नहीं जानता।⁽¹⁹⁾

इस प्रकार सगुण-निर्गुण को मानते हुए भी यह निर्गुण के अधिक निकट हैं। मंगतराम जी की वाणी से सर्वथा स्पष्ट होता है

कि वे ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही महत्त्व देते हैं। उनकी प्रार्थना में बार-बार चरण-कंवल, बन्दना आदि शब्दों में सगुण का भ्रम होता है, लेकिन यह मात्र भ्रम ही है। इस शंका का निवारण स्वयं मंगतराम जी करते हुए कहते हैं कि प्रेमी अन्दर जो सत्स्वरूप विराजमान है, जिसको तुम अभ्यास और सिमरण करते-करते अनुभव करोगे, उसको आदर भाव लिए हुए अपने आपको समर्पण करने की भावना से जो कहा जाता है। उसको चरण-कंवल की तशबीह (उपमा) देकर समझाया गया है। परमात्मा का सिर तो आज तक किसी ने देखा नहीं, तो चरण कंवल कहां से होंगे? यह एक आजजी (नम्रता) का भाव है कि, उस महान सत्ता के सामने अपने आपको झुका डालना। जब जीव झुकता है, तब चरण की तरफ ही पहले दृष्टि जाती है। इस वास्ते भगवान के प्रति जो कुछ भी विचार प्राणी प्रकट करते हैं, वे आजजी और आदर के भाव को लेते हुए चर-कंवल के नाम से कहे गए हैं।

सन्दर्भ :

- (1) रामचन्द्र तिवारी : कबीर मीमांसा, पृ. 113.
- (2) देवराज : गुरदेव ने कहा, पृ. 4.
- (3) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 107-110.
- (4) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 108.
- (5) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 108.
- (6) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 220.
- (7) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 43.
- (8) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 601.
- (9) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 795.
- (10) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 230.
- (11) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 177.
- (12) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 250.
- (13) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 384.
- (14) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 3.
- (15) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 415.
- (16) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 683.
- (17) देवराज : गुरदेव ने कहा, पृ. 91-92.
- (18) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 684.
- (19) संत मंगतराम : श्री समता प्रकाश, पृ. 723.



कट्टु सत्य है जिसे हम झुठला नहीं सकते और न ही विस्मित होने की आवश्यकता है।

‘दलित’ शब्द को और विस्तृत अर्थों में लेते हुए कहते हैं कि—‘दलित’ शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। ‘दलित’ की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को ‘दलित’ कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते.....अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।’⁽⁶⁾

‘दलित शब्द व्यापक अर्थबोध की अभिव्यंजना देता है। भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया है वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, वनों के बीच जीवनयापन करने के लिए बाध्य जनजातियाँ और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियाँ सभी इसके दायरे में आती हैं। सभी वर्ग की स्त्रियाँ दलित हैं। बहुत कम श्रम—मूल्य पर चौबीसों घण्टे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।’⁽⁴⁾

राजेन्द्र यादव दलित शब्द को काफी व्यापक दायरे में देखते हैं। वे स्त्रियों को भी दलित मानते हैं। पिछड़ी जातियों को भी दलितों में शामिल करते हैं। बाबूराव बागुल ‘दलित’ विशेषण को सम्यक् क्रान्ति का नाम मानते हैं जोकि क्रान्ति का साक्षात्कार है।

यही मान्यता अर्जुन डाँगले की भी है। उनका कहना है कि ‘‘दलित’ शब्द का अर्थ साहित्य के संदर्भ में नए अर्थ देता है। दलित यानी शोषित, पीड़ित समाज, धर्म व अन्य कारणों से जिसका आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण किया जाता है, वह मनुष्य और वही मनुष्य क्रान्ति कर सकता है। यह दलित साहित्य का विश्वास है।’⁽⁶⁾

मराठी कवि नारायण सुर्वे का कहना है कि ‘‘दलित शब्द की मिला—जुली परिभाषाएँ हैं। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियाँ ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं। ईश्वर निष्ठा या शोषण निष्ठा जैसे बन्धनों से आदमी को मुक्त रहना चाहिए। उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारण समता, स्वतंत्रता और विश्व बन्धुत्व के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए। यही दलित साहित्य का आग्रह है। ‘दलित साहित्य’ संज्ञा मूलतः प्रश्न सूचक है। महार, चमार, मांग, कसाई, भंगी जैसी जातियों की स्थितियों के प्रश्नों पर विचार तथा रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।’⁽⁶⁾

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ‘दलित’ उस अर्थ का बोधक है जो समाज—व्यवस्था के निर्धारण में सबसे निचले पायदान पर है। प्राचीन वर्ण—व्यवस्था ने जिसे अन्त्यज अथवा अछूत की श्रेणी में रखा है। उनका शोषण, दलन हुआ है उसी वर्ग को ही संविधान में दलित का दर्जा प्राप्त है।

‘दलित’ शब्द 19वीं सदी के सुधारवादी आन्दोलन (या नवजागरण) काल की उपज है। विवेकानंद, एनी बेसेन्ट, रानाडे आदि ने इस शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है। ‘दलित’ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ‘दल’ धातु से हुई है। जिसका अर्थ है—तोड़ना,

हिस्से करना, कुचलना। संस्कृत शब्दकोशों में दलित शब्द के कुछ ऐसे ही अनेक अर्थ किए गये हैं यथा दलित—टूटा हुआ, कटा हुआ, पिसा हुआ, चिरा हुआ, खुला हुआ, दलित—दल गया, मर्दित, पीसा गया आदि।

मानक हिन्दी—अंग्रेजी शब्दकोशों में ‘दलित’ शब्द के लिए ‘डिप्रेसड’ मिलता है। इसके अतिरिक्त ‘डाउनट्रोडन’ शब्द भी मिलता है। हिन्दी शब्दकोशों में भी संस्कृत और अंग्रेजी के ही समान ‘दलित’ का अर्थ है, मसला हुआ, रौंदा हुआ, खण्डित, मर्दित, विनष्ट किया हुआ आदि।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के उस वर्ग को, जिसे सबसे निम्न समझा जाता है और जिसका उच्च वर्ग के लोगों ने दलन किया, विकसित नहीं होने दिया, दलित वर्ग कहा गया। दलित शब्द की वर्ग वादी व्याख्या मार्क्सवादी चिन्तकों ने की। राजकिशोर, नामदेव ढसाल, म०न० वानखेडे, नारायण सुर्वे आदि दलित को वर्गीय दृष्टि से देखते हैं। लेकिन यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आर्थिक रूप से सभी वंचित लोगों की सामाजिक प्रस्थिति समान नहीं होती। एक गरीब ब्राह्मण की वह सामाजिक प्रस्थिति वह नहीं होगी जो एक चमार की। बल्कि परम्परागत रूप से तो धन, शक्ति, यश, एवं गुण से हीन ब्राह्मण भी धनवान, शक्तिशाली, गुणवान अछूत से सामाजिक स्तर पर उच्च होता है। सामाजिक प्रस्थिति की असमानता का उदाहरण आये दिन गाँवों में देखने को मिलता है। एक पचासी वर्ष का ‘दलित’ पच्चीस वर्ष के सवर्ण को प्रणाम करता है। ऐसा न करना अपराध माना जाता है।

यह एक कट्टु सत्य है कि भारतीय समुदायों में अथवा समाजों में निम्न स्तर वाले मनुष्यों को अस्पृश्य, अछूत अथवा ‘दलित’ माना गया है और इनका नामकरण भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग—अलग हुआ है। कुछ समय गुजरने के पश्चात् इन अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों ने अपनी पहचान को पाने और समाज में एक अलग स्थान पाने का प्रयास किया। वे जिस समुदाय के अंग हैं, वहाँ भी अपनी भूमिका को मजबूत करने का संकल्प लिया है।

बाबा साहेब अम्बेडकर द्वारा प्रयुक्त ‘ब्रोकेन मैन’ के पर्याय के तौर पर दलित शब्द प्रयुक्त हुआ और उनके परिनिर्वाण के दो वर्ष बाद 1958 ई० में दलित के साथ साहित्य का सचेत प्रयोग किया गया। ‘दलित’ शब्द साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं का यथार्थवादी अभिव्यक्ति है।

विद्वानों ने अनेक प्रकार से ‘दलित साहित्य की व्याख्या की, कई प्रकार से उसे परिभाषित किया। ‘‘दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी ‘मास लिटरेचर (Mass Literature)। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन (Literature of Action) भी है, जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामन्ती मानसिकता के विरुद्ध आक्रोश जनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह की उपज दलित साहित्य।’⁽⁷⁾

एक बार बाबा साहेब अम्बेडकर ने कहा था, ‘‘जब हिन्दुओं को वेदों की जरूरत पड़ी, तो उन्होंने यह काम व्यास को सौंप दिया जो सवर्ण नहीं थे, जब हिन्दुओं को एक महाकाव्य की जरूरत पड़ी तो उन्होंने यह काम वाल्मीकि को सौंप दिया, जो एक अछूत थे तथा हिन्दुओं को जब एक संविधान की जरूरत पड़ी, तो उन्होंने यह काम मुझे सौंप दिया।’ डॉ० अम्बेडकर की यह उक्ति दलितों के द्वारा किये

गये उन महान योगदानों की तरफ इशारा करती है, जिनका भारतीय साहित्य और समाज हमेशा ऋणी रहेगा। अम्बेडकर के ही प्रयासों के परिणाम स्वरूप 'दलित साहित्य' पदबंध अस्तित्व में आया। अम्बेडकर ने सुप्त चेतना को झकझोर कर आत्मसम्मान के बोध और स्वत्व के प्रकटीकरण की जो जमीन तैयार की थी उसने शीघ्र ही दलित साहित्य को स्वरूप दे दिया। जातिवादी सवर्ण सोच वालों ने तनिक भी न सोचा होगा कि यह समुदाय एक दिन इस तरह अपना विशाल स्वरूप ग्रहण करेगा एवं उसका अपना साहित्य रचा जायेगा। दलित साहित्य को लम्बे समय तक मान्यता न मिलने के पीछे यही सवर्ण सोच वाली मानसिकता कार्य कर रही थी।

दलित रचनाकारों ने इस मान्यता की अधिक परवाह न करते हुए अपना कार्य प्रारम्भ किया और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। एक प्रांत में उभरे दलित साहित्य ने सम्पूर्ण भारतीय स्तर पर अपनी पहचान बनायी। एक नया मुकाम हासिल किया। आज दलित साहित्य भारतीय साहित्य का प्रमुख स्वर है। भारतीय साहित्य को समृद्ध करने में उसका महान योगदान है। उसने भारतीय अवधारणा में भी बहुत कुछ जोड़ा है। जो ऐतिहासिक है। यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है जिसके कारण इसका योगदान कितना है यह बता पाना कठिन और जल्दबाजी होगी।

“नवयुग का एक व्यापक वैज्ञानिक व यथार्थपरक संवेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है। जो कुछ भी तर्कसंगत, वैज्ञानिक, परम्पराओं का पूर्वाग्रहों से मुक्त साहित्य सृजन है हम उसे 'दलित साहित्य' के नाम से संज्ञापित करते हैं।”⁽⁸⁾

सन् 1958 में महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ ने प्रथम दलित साहित्य सम्मेलन किया था। इस सम्मेलन ने दलित साहित्य और दलित आन्दोलन को जोड़कर देखा और साहित्य सृजन की क्रान्तिकारी भूमिका का रेखांकन किया। आन्दोलन धर्मी साहित्य रचने के आह्वान के साथ सम्मेलन में कई प्रस्ताव पारित किए गए। प्रस्ताव संख्या पाँच में कहा गया कि 'मराठी में दलितों द्वारा और गैर दलितों द्वारा दलितों पर लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य नाम से मान्यता दी जाए और इसके सांस्कृतिक महत्त्व को समझते हुए विश्वविद्यालयों और साहित्यिक संगठनों द्वारा इसे उचित स्थान दिया जाए।'

अब यह आन्दोलन अपने छठे दशक में चल रहा है। इतने लम्बे समय तक किसी भी भाषा के आधुनिक काल में कोई साहित्य युग नहीं चल रहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अलग-अलग भाषाओं में थोड़ी भिन्नता के साथ लिखे जाने के बावजूद दलित साहित्य का स्वरूप प्रांतीय न होकर अखिल भारतीय रहा है। यह एक सोचनीय बात है कि दलित साहित्य जिस उच्च स्थान प्राप्त करने योग्य है, उसे स्वीकार करने में समीक्षक, आलोचक, विद्वान और साहित्योतिहासकार दलित साहित्य को परिशिष्ट से अधिक जगह देने को राजी नहीं। दलित साहित्य के स्वरूप एवं अवधारणा को स्पष्ट करते हुए दलित चिन्तक कंवल भारती कहते हैं, “दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा रूपायित किया है अपने जीवन-संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति की साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा

लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटी में आता है।”⁽⁹⁾

अनुभूति की प्रामाणिकता हिन्दी दलित साहित्य का पारिभाषिक पद है। दलित साहित्य दलित प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति है। जब दलित शब्द साहित्य से जुड़ता है तो एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति बनती है। “मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान मानने वाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करने वाली साहित्य ही दलित साहित्य है।”⁽¹⁰⁾

संदर्भ :

- (1) वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2005) : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ 13.
- (2) भारती, कंवल : युद्धरत आम आदमी, अंक 41-42, 1998, पृ 41.
- (3) नैमिशराय, मोहनदास : साहित्य और संस्कृति में दलित अस्मिता और पहचान का सवाल, नया पथ (अंक 24-25), जुलाई-सितम्बर 1997, पृ 104-5.
- (4) वाल्मीकि, ओम प्रकाश (2005) : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ 14.
- (5) डॉंगले, अर्जुन (1978) : दलित साहित्य : एक अभ्यास, महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मंडल, पृ 41.
- (6) सुर्वे, नारायण : हंस 1993.
- (7) वाल्मीकि, ओम प्रकाश (2005) : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ 15.
- (8) भारती, डॉ बी०सी० : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, हंस-11, अंक-1, 1996, पृ 70-72.
- (9) भारती, कंवल : युद्धरत आम आदमी, अंक-41-42, 1998, पृ 41.
- (10) बागूल, बाबूराव : दलित साहित्य हेतु माणसाचे साहित्य, सिंह गर्जना, दीवाली अंक, 1975.





कबीर काव्य में 'गुरु' सम्बंधी अवधारणा

प्रस्तुत शोधपत्र कबीर की 'गुरु' सम्बंधी अवधारणा पर आधारित है। कबीर और उनकी रचनाओं से गुरु को अलगाया नहीं जा सकता है। इसका मतलब गुरु का अर्थ, आशय, अपनी तमाम गरिमा और संस्कृति के साथ उनके काव्य में उपस्थित है। यही कारण है कि जब-जब भी गुरु की चर्चा आती है, तब कबीर याद आते हैं। जब कबीर की बात आती है, तो गुरु को याद किया जाता है। यह तो सभी की जुबान पर है - गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय। बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो दिखाया। कबीर ने गुरु और सद्गुरु के बीच भी अंतर बताया है। उन्होंने लिखा है, पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर। सतगुरु दाँव बताइया, खेले दास कबीर। तात्पर्य यह कि और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर कबीर ने गुरु, सद्गुरु और इस बहाने निर्गुण की उपासना करने का जो संदेश दिया, आज भी यदि उनके मार्ग पर चलें तो दुनिया की तस्वीर बदल सकती है।

डॉ. देवेन्द्र कुमार

कबीर जी मध्ययुगीन संत काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। 'मसि कागद छुओ नहिं' कहने वाले इस कवि का काव्य भाव पक्ष तथा कला पक्ष की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। 'कागद की लेखी' का विरोध करके 'आँखन देखी' का समर्थन करने वाले कबीर जी का काव्य स्वानुभूति का सशक्त प्रमाण है। अद्वैतवादी कबीर जी ने अपने काव्य में जहाँ एक ओर जाति-पांति, वर्ण-व्यवस्था तथा मिथ्याडंबों का डट कर विरोध किया, वहीं उन्होंने समाज को लालची पण्डितों और मुल्लाओं के पीछे न भागने का संदेश देते हुए सत्गुरु की तलाश करने तथा उसका दामन पकड़ने का परामर्श दिया। वैसे तो सम्पूर्ण संत काव्य में 'गुरु' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, परन्तु कबीर जी का काव्य इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है। प्रस्तुत शोधलेख का प्रयोजन कबीर जी की गुरु सम्बन्धी अवधारणा पर प्रकाश डालना है।

शाब्दिक दृष्टि से 'गुरु' का अर्थ है, बड़ा अथवा बड़प्पन, यह बड़प्पन किसी भी रूप में हो सकता है। मध्ययुगीन संत काव्य धारा में संतों-विशेषतयः कबीर जी, ने ज्ञान में पड़े व्यक्ति को ही गुरु माना है। उन्होंने गुरु को ब्रह्म प्राप्ति का अनिवार्य सौपान स्वीकार किया है। कबीर जी ने ऐसे आदरणीय और वंदनीय व्यक्ति को गुरु कहा है, जो अज्ञानी जनों को सदुपदेश देकर सद्मार्ग पर अग्रसर करता है अथवा साधक को समुचित साधना मार्ग बताकर उसकी ब्रह्म प्राप्ति में सहायता करता है। 'गुरु' के इस अर्थ के अतिरिक्त गुरुवाणी में दस गुरुओं के लिए तथा आदि ग्रन्थ के लिए भी गुरु शब्द का व्यवहार किया जाता है, परन्तु यह कबीर जी द्वारा प्रतिपादित अर्थ नहीं है। 'गुरु' के कोशगत तथा अवधारक अर्थ के उपरांत कबीर जी की सखियों में से 'गुरु' सम्बन्धी अवधारणा की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा रही है :

(1) गुरु - ब्रह्म का रूप :

कबीर जी ने गुरु को ब्रह्म का ही दूसरा रूप माना है। अन्तर

केवल नाम-रूप का है। यदि कोई अपने अहंकार को मिटा दे तो प्रभु का साक्षात्कार कर सकता है। कबीर जी के अनुसार :

गुरु गोविंद तो एक है, दूजा यहु आकार।

आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार।। 26।। (पृष्ठ 14)

कबीर जी ने जहाँ गुरु को ब्रह्म मान कर उनको आदर देते हैं, वहीं वे कहीं-कहीं तो गुरु को ब्रह्म से भी अधिक महान् कहकर उनकी स्तुति करते हैं तथा उन पर सर्वस्व बलिदान करने की बात करते हैं :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।

बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो दिखाया।।

(2) गुरु - सच्चा पारखी और अनुग्रही :

कबीर जी ने गुरु को सच्चा पारखी कहा है। कबीर जी का मानना है कि सत्गुरु ही ऐसा परीक्षक है, जो शिष्य को भली-भांति परख कर, उसके अवगुणों को दूर करके उसे अपने रंग में रंग लेता है। कबीर जी लोहार और सुनार का प्दांत देते हुए कहते हैं कि साधना की कसौटी पर कसा जाने वाला शिष्य ही सच्चा शिष्य है और शिष्य को सत्यता और साधना की कसौटी पर कसने वाला गुरु ही सत्गुरु है और वही, शिष्य को प्रलोभनों और उपद्रवों से सुरक्षित रख सकता है।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहि लुहार।

कसनी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार।। 28।। (पृष्ठ 14)

गुरु अपने अनुग्रह और उपदेश से शिष्य को दृढ़ता और साहस प्रदान करता है, जिससे शिष्य की आस्था और निष्ठा गुरु में दृढ़ हो जाती है। इससे वह बाह्य साधनाओं और आडम्बरों से हटकर अन्तर्मुखी साधना में लीन हो जाता है।

थापनि पाई थिति भई, सतगुरु दीन्हि धीर।

कबीर हीरा बनिजिया, मान सरोवर तीर।। 29।। (पृष्ठ 15)

एसोसिएट प्रोफेसर, खालसा कॉलेज, गढ़दीवाला (पंजाब)

कबीर जी का दृढ़ विश्वास है कि गुरु की पारखी दृष्टि और अनुग्रह के बिना कभी किसी को परमानंद प्राप्त नहीं हो सकता। सत्गुरु के बिना साधक यती का स्वांग रच कर दर-दर भीख मांगता फिरता है—

कबीर सत्गुरु न मिल्या, रही अधूरी सीख।

स्वांग जती का पहिरि करि घरि घरि माँगे भीख॥ 27॥ (पृष्ठ 14)

(3) गुरु – सच्चा हितैषी और मार्ग दर्शक :

कबीर जी का दृढ़ विचार है कि सत्गुरु ही सच्चा हितैषी और सच्चा मार्गदर्शक है। उसके अतिरिक्त कोई भी साधक का हित नहीं चाहता। गुरु के हितैषी होने से ही ब्रह्म अर्थात् परमात्मा भी साधक का हितैषी बन जाता है, यथा—

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सई न दाति।

हरि जी सवाँ न को हितु हरिजन सई न दाति॥ 1॥ (पृष्ठ 1)

सत्गुरु की महिमा अनंत है। साधक का हित करने के लिए तो वह अत्यंत उपकारी हो जाता है तथा उसे ज्ञान चक्षु प्रदान कर देते हैं यथा—

सत्गुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उधारिया, अनंत दिखावनहार॥ 3॥ (पृष्ठ 2)

उस गुरु पर तो न्योछावर होना ही चाहिए, जो साधारण मानव को देव तुल्य कर देने का सामर्थ्य रखता है और बदले में कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। इसीलिए साधक भी गुरु के बताए मार्ग पर, अनेक बाधाओं को पार करते हुए, अडिग रहता है :

सतगुरु कै सदकै करुं, दिल अपनी की साँच।

कलिजुग हम सौं लडि पड्ड, मुहकम मेरा बाँच॥ 5॥ (पृष्ठ 3)

(4) गुरु – ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदाता :

जब तक साधक को गुरु की प्राप्ति नहीं हुई थी, वह अनजाने में वेदों, पुराणों आदि के बताए साधना मार्ग पर चल रहा था, परन्तु इस मार्ग पर चलकर तो उसके हृदय का अंधकार और भी बढ़ रहा था। जैसे ही उसे सच्चा गुरु मिल गया वैसे ही उसका अज्ञान मिट गया, क्योंकि गुरु ने उसे ज्ञान रूपी दीप थमा दिया, जिससे उसका मार्ग प्रकाश से भर उठा यथा :

पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।

आगै तैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥11॥ (पृष्ठ 6)

साधक के हाथ में ज्ञान रूपी दीपक देने वाला गुरु वस्तुतः ब्रह्म का ही दूसरा रूप है, जोकि स्वयं में पूर्ण है। यदि गुरु पूर्ण न हो तो दोनों अंधकार के कुएँ में गिर सकते हैं :

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।

अंधहि अंधा ठेलिया, दोनों कूप पडंत॥15॥ (पृष्ठ 8)

साधना तभी सफल होती है, जब वास्तविक और ज्ञानी गुरु मिले, दूसरी ओर शिष्य भी निष्ठावान होना चाहिए, निष्ठा के सहारे तो शिष्य पत्थर की नाव पर चढ़कर भी पार हो जाता है—

नां गुरु मिल्या नं सिष भया, लालच खेल्या डव।

दोनों बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥ 16॥ (पृष्ठ 8)

जिस शिष्य को गुरु में आस्था हो जाती है, उस को गुरु से असीम स्नेह और ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गुरु उसे ऐसा ज्ञान-दीपक देता है, जिसमें उसका प्रेम रूपी तेल और कभी न घटने वाली बाती होती है। इन वस्तुओं के बल पर साधक अपने साधना मार्ग में अग्रसर होता है और बिना किसी बाधा गंतव्य (जन्म मरण के चक्र से मुक्ति)

पर पहुँच जाता है—

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट।

पूरा किया विसाहना, बहुरि न आवौ हट॥12॥ (पृष्ठ 6)

(5) गुरु – शब्द रूपी ज्ञान देने वाला :

प्रायः गुरु धारण करने के उपरांत शिष्य को गुरु द्वारा शब्द रूपी मंत्र दिया जाता है। इसी शब्द द्वारा वह साधना मार्ग की रुकावटों को दूर करता है और लक्ष्य प्राप्ति करने में सक्षम होता है। यह शब्द रूपी शक्तिपात् तीन प्रकार से होता है—स्पर्श द्वारा, दृष्टि द्वारा और शब्द द्वारा। जब गुरु शब्द रूपी शक्तिपात् करता है, तभी साधक का अज्ञान मिटता है, भय हट जाता है, हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है :

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सब्द जु बाह्या एक।

लागत ही भैं मिलि गया, पड्या कलेजै छेक॥17॥ (पृष्ठ 4)

शब्द रूपी ज्ञान का बाण लगते ही साधक की इन्द्रियों की समस्त शिथिलता समाप्त हो जाती है और उसमें प्रभु प्राप्ति की उत्कट लालसा भर जाती है, प्रभु साक्षात्कार के लिए विरह की आग फूट निकलती है—

सतगुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।

आंगि उधारै लागिया, गई दवा सूँ फूटि॥ 8॥ (पृष्ठ 4)

जब शब्द रूपी बाण शरीर में लगता है, जो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों विषय-विकारों से विरत हो जाती हैं। साधक, लौकिक दृष्टि से गूंगा, बावला, बहरा और पंगु—सा हो जाता है, परन्तु अलौकिक दृष्टि से उसके लिए प्रभु के हृदय के सभी द्वार खुल जाते हैं और उस पर असीम अनुकंपा हो जाती है :

गूंगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।

पाळं तै पंगुल भया, सतगुरु मारा बान॥10॥ (पृष्ठ 6)

(6) गुरु – शिष्य के संशय दूर करने वाला :

कबीर जी का दृढ़ विश्वास है कि गुरु ही शिष्य के सभी संशय दूर कर सकता है। जब तक गुरु की प्राप्ति नहीं हुई थी, शिष्य हानि उठा रहा था। संशय में डूब कर अपने मार्ग से भटकता फिर रहा था। गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान समस्त माया को दूर कर देता है :

भली भई जु गुर मिल्या, नातर होती हानि।

दीपक जोति पतंग ज्यूँ पडता आप निदान॥19॥ (पृष्ठ 11)

गुरु ज्ञान का अनंत स्रोत है। उसके ज्ञान का कोई पारावार नहीं है। जब तक शिष्य चूक न करे तब तक उसे हानि नहीं होती, परन्तु यदि शिष्य ही गुरु के ज्ञान का मनमाना अर्थ निकाल ले तो गुरु उसे कैसे बचा सकता है।

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माँहै चूक।

भावै त्यों परमोधि, ज्यूँ बंसि बजाई फूक॥21॥ (पृष्ठ 12)

यदि शिष्य के मन में मात्र संशय है और वह किसी तरह की चूक किये बिना गुरु को समर्पित है, तो इस संशय से गुरु अपने शिष्य को बचा लेता है, अन्यथा संशय तो सम्पूर्ण जगत को निगल जाता है :

संसै खाया सकल जग, संसा किनुहुँ न खड्ड।

जे बेधे गुरु अषिरां, तिनि संसा चुनि चुनि खड्ड॥22॥

(पृष्ठ 12)

गुरु अपने शिष्य के समस्त दोष, संशय, भेद आदि को दूर करके उसे ज्ञान मार्ग पर अग्रसर कर सकता है, परन्तु इसके लिए

अनिवार्य शर्त है—शिष्य का ज्ञान लेने के लिए कटिबद्ध होना और गुरु में असीम श्रद्धा और विश्वास का होना। इसके अभाव में गुरु—प्रदत्त ज्ञान उस मूढ़ शिष्य के किसी काम का नहीं होगा।

*सतगुरु मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पाँसि विनंठा कप्यड़ा, क्या करै विचारी चोल॥ 24॥*
(पृष्ठ 13)

गुरु का ज्ञान तो कर्मकाण्ड और ब्रह्माचार में लिप्त साधक को भी पार उतार देता है, परन्तु शर्त वही है। जो साधक समय रहते हुए गुरु के ज्ञान को आत्मसात् कर लेता है और कर्मकाण्डों तथा ब्राह्मचार से तौबा कर लेता है वह लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

*बूड़ा था पै ऊबरा, गुरु की लहरि चमकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरकि॥ 25॥*
(पृष्ठ 13)

(7) गुरु – प्रेम का आगार :

सतगुरु सदैव अपने शिष्य पर प्रेम का बादल बरसाते रहते हैं और उनके इस प्रेम में कभी भी कमी नहीं होती। गुरु तो प्रेम का आगार है। उनकी स्नेह दृष्टि शिष्य की सराबोर करती है, जो शिष्य गुरु के इस प्रेम के बादल में समस्त अंगों सहित भीगता है, वही सफल होता है :

*सतगुरु हम सँ रीझि करि, कहा एक परसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अँग॥ 33॥
कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आतमां, हरी भई बनराइ॥ 34॥* (पृष्ठ 17)

सतगुरु का मार्ग प्रेम है और जो गुरु के इस मार्ग का प्रेम पथिक हो जाता है वही सफल होता है। सतगुरु के बताए मार्ग पर चलकर साधारण शिष्य भी अत्यंत गौरवान्वित पद पा लेता है। गुरु के प्रेम रूपी गोटी को जो अपने शरीर रूपी बिसात पर गुरु द्वारा बताये दाँव से खेलता है, वही सफल होता है—

*पासा पकड़ा प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाँव बताइया, खेले दास कबीर॥ 32॥* (पृष्ठ 17)

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कबीर जी ने गुरु उस व्यक्ति को माना है, जो साधना मार्ग में पड़े साधक को ज्ञान प्रदान करता है और अपने ज्ञान की रोशनी में फंसकर समस्त संशय, भय, दुःख, शंकायें आदि मिटा देता है। कबीर जी ने गुरु को ब्रह्म प्राप्ति का अनिवार्य सौपान माना है। कबीर जी ज्ञान में पड़े महात्मा को गुरु कहते हैं और साधक को परामर्श देते हैं कि ऐसे गुरु का दामन पकड़े जो पूरा हो, जो अपने ज्ञान में पूरा होगा, वही तो शिष्य का भला करेगा। पूरे गुरु से परिचय होते ही सभी दुःख दूर हो जाते हैं, आत्मा निर्मल हो जाती है और ब्रह्म सदैव विद्यमान रहकर दर्शन देते हैं।

संदर्भ :

(1) सभी साखियां, 'कबीर वाङ्मय : खण्ड तीन', सम्पादक जयदेव सिंह तथा वासुदेव सिंह, सितम्बर 1976, पृष्ठ 1-18 से उद्धृत हैं।





समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति और समय का सच

प्रस्तुत शोधपत्र, समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में समय का सच और राष्ट्रीय भावना पर आधारित है। हिन्दी ग़ज़ल का यद्यपि इतिहास बहुत पुराना नहीं है, किन्तु स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी ग़ज़लें छुटपूट रूप में मिलती हैं। इसकी वजह यह रही कि उस समय देश को आजादी चाहिए थी और जो चाहिए था, उसके लिए लिखा गया था। उसके बाद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी ग़ज़ल से राष्ट्रीय भावना का रंग कम होता गया। किन्तु, समकालीन हिन्दी ग़ज़ल को देखें तो प्रसन्नता होगी कि पुनः राष्ट्रीय भावना की ओर ग़ज़ल की ओर मुड़े कवि लौट रहे हैं। यद्यपि अभी भी रंग उतना गाढ़ा नहीं है, जो स्वतंत्रता पूर्व रहा है। जो हो हिन्दी ग़ज़ल लेखन आज भी जारी है और शुभ संकेत है कि राष्ट्रीय भावना का समावेश किया जा रहा है, जिसकी आज के दौर में बहुत आवश्यकता है।

जसदीप मोहन

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में राष्ट्रवाद के दर्शन प्रमुखता से होते हैं। 'ग़ज़ल' अरबी, फारसी से होते हुए उर्दू के रास्ते हिन्दी में प्रविष्ट हुई। हालांकि ग़ज़ल की मूल प्रकृति प्रेमात्मक है। वर्तमान ग़ज़ल का स्वरूप बहुत हद तक परिवर्तित हो चुका है। इसका क्षेत्र प्रेम और विरह के संकुचित अर्थ तक नहीं, बल्कि समकालीन जीवन और जगत का प्रत्येक छोटा-बड़ा अनुभव इसके विषय क्षेत्र में है। इस शोध-पत्र में समकालीन हिन्दी ग़ज़ल में राष्ट्रवाद की भावना का अध्ययन किया गया है। हिन्दी ग़ज़ल के पितामह माने जाते हैं, श्री दुष्यंत कुमार। उनकी एक ग़ज़ल की पंक्ति को ही शोध-पत्र का शीर्षक बनाया गया है। पूरा शेर इस प्रकार है :

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए
मैंने पूछा नाम, तो बोला कि हिन्दुस्तान है।⁽¹⁾

साठोत्तरी हिन्दी ग़ज़ल में राष्ट्रवादिता के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं। समकालीन ग़ज़लकार देश को दरपेश विभिन्न प्रकार की चुनौतियों का वर्णन अपनी ग़ज़लों में कर रहे हैं। देश के प्रति उनकी आस्था और विभिन्न सामाजिक समस्याओं व सरोकारों के प्रति सजगता उनकी राष्ट्रवादी सोच को अभिव्यक्त करती है।

संविधान ने जिस लोकतन्त्रात्मक सत्ता की बात की थी, उसे मौजूदा व्यवस्था ने स्वहितों के लिए प्रयोग करने हेतु उसकी व्याख्या अपने ही आधार पर करनी शुरू कर दी है। प्रशासन स्वयं इसकी धज्जियाँ उड़ाने में लगा हुआ है। संविधान को काट-काट कर रूमाल बना डाला है। जहीर कुरेशी की ग़ज़ल के दो अक्षर देखिए:

संविधानों की भी रक्षा नहीं कर पाई जो,
मूक दर्शक बनी सरकार से उर लगता है।
जिस दिन से राजनीति ने अपना लिया उन्हें
उस दिन से वो भी चोर-उच्चक्के नहीं रहे।⁽²⁾
संसद से लेकर निचले स्तर तक भ्रष्टाचार, अन्याय, शोषण

व्याप्त है। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। शिक्षा, रक्षा, कानून, न्याय सब बिकाऊ हो चुके हैं। समकालीन ग़ज़लकार इस भयावह स्थिति से परिचित हैं और उनकी भरसक कोशिश है कि यह सूरत बदलनी चाहिए।

काका हाथरसी का एक शेर देखिए :

वो संसद आजकी तहजीब में संसद नहीं जिसमें
न चप्पल है, न जूता है, न थप्पड़ है न गाली है।⁽³⁾

मजहब, सियासत, संसद, नेता, झूठ, देश, मुल्क, कानून, नियम, तंत्र, पुलिस आदि स्थूल विषयों पर कमलेश भट्ट कमल ने लेखनी बखूबी चलाई है। उनकी ग़ज़ल का एक शेर देखिए :

गरीबों के निवाले कौन है जो छीन लेता है,
कई ऐसे ही मुद्दों पर 'सदन' चर्चा नहीं करता।⁽⁴⁾

आजादी और विकास का लाभ आम जनता तक नहीं पहुँचता। देश के संसाधन कुछेक अमीर, पूँजीपतियों, नेताओं तक सिमट कर रह गए हैं। जनता के आँसू पोंछने की जगह सब मगरमच्छ के आँसू बहाते दिखाई देते हैं। कमलेश भट्ट कमल का एक शेर देखिए :

सिर्फ़ कहने भर की थी पदयात्रा,
काफ़िले में एक भी पैदल न था।⁽⁵⁾

साएमा बानो ने अपने संपादित ग्रंथ 'समकालीन हिन्दी ग़ज़ल : पहचान और परख' में अनिरुद्ध सिन्हा और डॉ. उर्मिलेश के शेर उद्धृत किए हैं :-

हम शिकायत क्या करें हालात से, कटघरे में जबकि
है पूरी सदी, जिध्दगी को एक टूटा दिल मिला। हाशिये पर
चीख़ता है आदमी।

हाथ काटे जो गये ताजमहल के पीछे, ढूँढना उनको
कभी मेरी ग़ज़ल के पीछे,

स्कूलों से पढ़ाई और अस्पतालों से दवाई नदारद है। शिक्षा

का निजीकरण, व्यवसायीकरण देश के लिए खतरे की घण्टी है। प्रतिभा पलायन के कारण देश लायक छात्रों व अधिकारियों से हाथ धो रहा है। अस्पताल, स्कूल, पंचायत, शहरी निकाय सबमें भ्रष्टाचार व्याप्त है। सजग गजलकार इस तंत्र के खिलाफ अपनी लेखनी चला रहे हैं। दुष्यंत कुमार ने तो यहाँ तक कह दिया था कि यहाँ दरख्तों के साये में धूप लगती है, चलो यहाँ से चलें और उम्र भर के लिए।

मुनवर राना के दो अश्रार देखें :

**हमारी जिंदगी का इस तरह हर साल कटता है/
कभी गाड़ी पलटती है कभी तिरपाल कटता है/
सियासी वार भी तलवार से कुछ कम नहीं होता
कभी कश्मीर कटता है, कभी बंगाल कटता है।** ⁽⁶⁾

अदम गोंडवी की गजल के अश्रार देखिये :

**धूस खोरी, काला बाजारी है या व्यभिचार है,
कौन है जो कह रहा भारत में भ्रष्टाचार है।
जब सियासत हो गई है पूँजीपतियों की रखैल
आम जनता को बगावत का खुला अधिकार है।** ⁽⁷⁾

काजू भुने प्लेट में व्हिस्की गिलास में
उतरा है राम राज विधायक निवास में ⁽⁸⁾

दुष्यन्त कुमार की गजल के अश्रार देखिए :

**अब किसी को भी नजर आती नहीं कोई दरार
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तेहार
में बहुत कुछ सोचता रहता हूँ पर कहता नहीं
बोलना भी है मना सच बोलना तो दर किनार** ⁽⁹⁾

समकालीन गजलकार राष्ट्र हित को मद्देनजर रखते हुए अवागम के पक्ष में सोचते हैं और लिखते हैं। वे जनता के दुरुख, दर्द और समस्याओं को नजरअंदाज नहीं करते, बल्कि उससे जुड़कर उनके खिलाफ छेड़ी गई जंग में अपनी हिस्सेदारी निभाते हैं। राम कुमार कृषक जी ने अपनी गजलों में समाज की विसंगतियों के मूलभूत कारणों—सत्ता और व्यवसायियों के जन-विरोधी रवैए पर व्यंग्य-प्रहार किए हैं :

**टिके हुए हैं मंदिर-मस्जिद धन-दौलत की लूट से
धन-दौलत भी टिकी हुई है लूट-पाट की छूट से
धर्म की वैसाखियों पर ये सियासत का सफ़र
आदमी की आदमी पर जानवर जैसी नजर** ⁽¹⁰⁾

सत्य, अहिंसा, प्रेम मानवता भारतीय संस्कृति के मूल स्वर हैं, लेकिन आज की पीढ़ी अपनी जड़ों को भूलती जा रही है। पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकृष्ट हो रही है, जिस कारण मूल्यों में परिवर्तन आ रहे हैं। भूमण्डलीकरण और विश्व गाँव की अवधारणा के चलते लोगों में यांत्रिकता बढ़ी है, जबकि आपसी लगाव कम होता जा रहा है। घर की जगह मकानों ने ले ली है। बच्चे माता-पिता को कम, मोबाइल, कम्प्यूटर लेपटाप को ज्यादा पसंद करने लगे हैं।

वस्तुतः एक सजग रचनाकार किसी जन-प्रतिनिधि से कम नहीं होता, जो सर्वहारा का पक्ष लेते हुए सामाजिक विसंगतियों को नष्ट करने में शासन की नीतियों का पर्यवेक्षण करता है। साथ ही जनमत की सचेतनता के लिए वह उस पर प्रतिक्रिया भी देता है। बल्ली सिंह चीमा की यह गजल शासन और व्यवस्था की इन्ही कुटिलताओं और छलावों को उजागर करती है :

**“खबरों में रेडियो ने गर कुछ कहा नहीं
ये मत समझ कि देश में कुछ भी हुआ नहीं
वो कह रहे हैं आग तो लगते ही बुझ गई
मतलब नहीं कि आग में कोई जला नहीं।”** ⁽¹¹⁾

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समकालीन गजल में राष्ट्रवादिता प्रमुखता से मुखरित हुई है। देश की पीड़ा गजलकार की अपनी पीड़ा है। वह वर्तमान समाज की सच्ची तस्वीर पेश कर उसमें आमूल-चूल सुधारों का पक्षधर है। वीनस केसरी के अश्रार देखिए :

**अब हो रहे हैं देश में बदलाव व्यापक देखिये
शीशे के घर में लग रहे लोहे के फाटक देखिये
जो ढो चुके हैं इल्म की गठरी अदब की बोरियाँ
वह आ रहे हैं मंच पर बन कर विदूषक देखिये
जनता के सेवक थे जो कल तक आज राजा हो गये
अब उनकी ताकत देखिये उनके समर्थक देखिये।** ⁽¹²⁾

संदर्भ :

(1) दुष्यंत कुमार (2013) : 'साये में धूप', राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 57.

(2) विवेक, ज्ञान प्रकाश (संपादक) (2006) : 'हिन्दी गजल की विकास यात्रा', हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण, पृ. 218.

(3) समकालीन स्पंदन, गजल विशेषांक, बसंत-ग्रीष्म 2015, पृ. 95.

(4) विवेक, ज्ञान प्रकाश (संपादक) (2006) : 'हिन्दी गजल की विकास यात्रा', हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण, पृ. 228.

(5) वही।

(6) केसरी, वीनस (2015) : गजल की बाबत, अंजुमन प्रकाशन इलाहाबाद, उ.प्र. प्रथम संस्करण, पृ. 96.

(7) अलाव, समकालीन हिन्दी गजल आलोचना केन्द्रित विशेषांक, मई-अगस्त 2015 (सं. राम कुमार कृषक) अदम गोंडवी की गजल, पृ. 26.

(8) वही, पृ. 78.

(9) दुष्यंत कुमार (2013) : 'साये में धूप', राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 63.

(10) अलाव, समकालीन हिन्दी गजल आलोचना केन्द्रित विशेषांक, मई-अगस्त 2015 (सं. राम कुमार कृषक), रामकुमार कृषक की गजल के अश्रार, पृ. 81.

(11) बानो, साएमा (संपादक) (2013) : समकालीन हिन्दी गजल : पहचान और परख, कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 117-118.

(12) केसरी, वीनस (2015) : गजल की बाबत, अंजुमन प्रकाशन इलाहाबाद, उ.प्र. प्रथम संस्करण, पृ. 176.





मिस्टर अभिमन्यु : समकालीन परिवेश का जीवंत दस्तावेज

प्रस्तुत शोधपत्र डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल के 'मिस्टर अभिमन्यु' को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। यूं भी डॉ.लाल नाटकों के माध्यम से भी समय, समाज और उसकी समस्याओं को लिखते रहे हैं। 'मिस्टर अभिमन्यु' पिछले लेखन से आगे का है...और जब कोई लेखक या नाटककार के पास जीवन और समय के देखे हुए सच और उनके कटु अनुभव, अनुभूतियाँ इकट्ठे हो जाते हैं, तो उसके लेखन में पूरी ताकत के साथ सामने आती है। 'मिस्टर अभिमन्यु' भी इसी तरह का एक अलग तेवर वाला, किन्तु समकालीन परिवेश का आईना प्रस्तुत करने वाली कृति है। समकालीन लेखन जिस तरह से बदली हुई भाषा, शैली, स्वरूप और सोच की मांग करता है, डॉ.लाल की यह कृति निश्चय ही उसकी पूर्ति करती है। यह लिखना आवश्यक नहीं लगता कि लोक-कल्याण की भावना इसमें व्यक्त हुई है, वह तो किस भी लेखन का प्रमुख उद्देश्य होता है। डॉ.लाल भी समाज को संदेश देते रहे हैं।

लवलीन कौर

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाट्य- विधा और रंगमंच के विकास क्रम में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का अत्यंत योगदान है। डॉ. लाल ने एक निर्देशक, अभिनेता एवं रंगकर्मी होने के नाते नाट्य- विषय और शिल्प में नित्य-नवीन-प्रयोग करते हुए यहाँ एक ओर नाटक एवं रंगमंच को विधागत स्वरूप नया गौरव और गर्व अर्थबोध प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर एक आलोचक, कहानीकार और उपन्यासकर के रूप में हिन्दी साहित्य जगत को नयी दृष्टि और नृत्य कला भी प्रदान की। बहुविधि प्रतिभा के धनी डॉ. लाल का जन्म 4 मार्च, 1927 ई. को बस्ती जिला के जलालपुर गाँव में हुआ। देशों-विदेशों में पर्यटन करने वाले डॉ. लाल को अपने गाँव, अपने देश और मिट्टी के प्रति अगाध प्रेम था। वह स्वयं कहते हैं, "कृतित्व संभव है अपनी जड़, अपनी मिट्टी से उगने में। अपनी हवा, अपने परिवेश, अपनी परिस्थितियों में ही उसका विकास है - फूल और फल।"⁽¹⁾ शायद यही लगाव था कि वह बड़े ही स्वाभिमानी और निर्भीक व्यक्तित्व के मालिक थे।

'मिस्टर अभिमन्यु' उनकी एक श्रेष्ठ कृति है। यह समकालीन परिवेश में घुटते-टूटते स्वाभिमानी जीवन की एक सफल नाटकीय झोंकी है। यह अभिमन्यु की सर्वविदित पौराणिक कथा के समकक्ष वर्तमान व्यवस्था, दुराचरिणी सत्ता और बेहया प्रशासकों के चक्रव्यूह में फँसे एक कलक्टर (जिसे हाल में कमिश्नर बनाया गया है) के विध्वंस जीवन की कहानी है। नाटक का नायक 'मिस्टर राजन' ही 'मिस्टर अभिमन्यु' है। त्रासदी की बात को यह है समकालीन परिवेश का यह युद्ध किन्हीं निश्चित दिनों या महीनों का नहीं, अपितु युगों और सदियों का है, जिसमें न जाने कितने अभिमन्यु अपनी जाने गुआ बैठे हैं और कितने और तैयार हैं।

नाटक का प्रारम्भ कमरे की साज सज्जा और मिस्टर अभिमन्यु का आगाज़-बुकशेल्फ पर पड़ी टूटी हुई पत्थर की एक मूर्ति- राजन के अन्दर के उस रुदन, लाचार, बेबस व्यक्तित्व की प्रत्यदर्शी है, जो व्यवस्था की जड़-चेतन मूल्य-मान्यताओं के हाथों पूरी तरह से टूट

चुका है। यथावत वह कहता है - "क्या मूर्ति है! सजावट के लिए जरूरी है, मूर्ति का टूटा होना, क्यों? इसके लिए कितनी कीमत चुकानी पड़ी? याद भी कैसे रहता।"⁽²⁾ वह अपनी अस्मिता, अपने स्थायीपन और अपनी सहृदयता इत्यादि सबको खो देता है, वास्तव में राजन के आत्मबल के तिरोहित होने का श्रेय केवल राजनीतिक व्यवस्था चक्र को ही नहीं जाता, वरन् उसके अपने घर का माहौल और विचारधाराएँ भी शामिल हैं, जो उस पर और केवल उस पर जबरदस्ती सौंपी गयी है। राजन के पिता (पेशे से वकील) अपने बेटे के लिए एक वरिष्ठ पद के अकांक्षी हैं, जो उसकी (बेटे की) संस्कार चेतना की परवाह किए बिना ही उसके लिए इस प्रशासनीय दिशा का चयन करते हैं। दूसरी तरफ उसकी पत्नी जो बाह्य स्तर पर तो एक आधुनिक 'स्पोर्टिव वाईफ' की तरह पति के कदम से कदम मिलाकर चलती है, लेकिन भारतीय संस्कारनिष्ठ पतिव्रता नारी बनकर अपना पत्नी धर्म नहीं निभाती, बल्कि स्वयं को उस पर थोपती है :

"राजन : गलत! जो आज मेरे चारों ओर है, वह मैंने नहीं चाहा।

विमल : तुमने इसका विरोध कब किया?

राजन : विमल!

विमल : तुमने जो-जो चाहा, वही मैं बनती गयी। वही-वही चीजें तुम्हारे चारों ओर आती हुई गयीं...यह टूटी मूर्ति, यह तस्वीर तुम्हारी ही पसंद है। मैं सब कुछ नहीं करती गयी.... वहीं बनती गयी जो तुमने पसन्द किया। यहाँ तक कि कपड़े भी मैंने तुम्हारी ही पसंद के पहने। मैं तो आज तक कुछ नहीं बोली"⁽³⁾

शायद यही कारण है कि वह जीत कर भी सब तरफ से पराजित हो जाता है। वह सब कुछ कर सकने के योग्य है, यहाँ तक कि उसमें इतनी सक्षमता है कि वह इस स्वार्थपरक षडयंत्रकारी सामाजिक नीतियों का हनन कर सकता है, लेकिन दुखद बात तो यह है, उसको इस काबलियत, अक्खड़ता और आत्माभिमान की बुनियाद ढीली है। कहना न होगा कि समकालीन अभिमन्यु की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि वह कायर है। उसमें दृढ़ संकल्प और

मनोबल तो है, लेकिन जब उसे एक अनिश्चित और विकल्पहीन स्थिति में उसकी सम्पूर्ण अतत्परता को जानते हुए भी धकेल दिया जाता है, तो उसके पास प्रत्येक मोर्चे पर सिवाय बुरी तरह से पराजित होने के और कोई रास्ता ही नहीं बचता है। पिता और पत्नी के अतिरिक्त पूँजीपति केजरीवाल, राजनैतिक गयादत, भ्रष्ट अफसरशाही, मंत्री और पुलिस उसके आसपास घूमती अपने आप में ऐसी मूल्य विदारक संस्थाएँ हैं, जो उसे खण्ड-खण्ड विभाजित कर रही हैं, लेकिन वह मरता नहीं, बल्कि मरता कौन है आत्मन। यही नाटक में एक नया मोड़ आता है। आत्मन जो अकसर जुलूसों में मोहरी पहलदारी करता है, भाषण देता है, बहस करता है इत्यादि, कहीं न कहीं स्वतंत्र भारत में पहली आजादी की लड़ाई शुरू करता है। यथावत दोनों के संवादों को नाटककार ने इस प्रकार संजोया है—

“राजन : मैंने तुम्हें अक्सर देखा है — भाषण देते हुए, बहस करते हुए, कहीं जुलूस की पहल करते हुए दफा एक सौ चवालीस को तोड़ते हुए नामिनेशन पेपर्स पर मेरे सामने दस्तखत करते हुए.... और जमानत जब्त होने पर कहीं....”

आत्मन : यही तो तुम्हारी चेतना थी स्वतंत्रता के बाद आजादी की लड़ाई शुरू होती है।

राजन : यह चेतना मेरी अब तक है।

आत्मन : झूट! तुमसे अब मेरा कोई रिश्ता नहीं। चौदह वर्ष हुए मैं तुमसे बहुत दूर छूट गया।⁽⁴⁾

नाटक में फैंटेसी का प्रयोग करते हुए राजन और आत्मन के रिश्ते को बड़ी महीन कारीगरी से निभाया गया है। वास्तव में जिस आत्मपीड़ा और आत्मविरोध की बात की गयी है, वह राजन की नहीं, आत्मन की है। गयादत की राजनीति के साथ आत्मन का विद्रोह है, राजन का नहीं। लड़ाई आत्मन लड़ता है, राजन नहीं और अन्त में मारा भी आत्मन जाता है, राजन नहीं।

“राजन : हाँ तूने न्याय किए अन्याय को छिपाने के लिए अपराधी को दंड दिए, अपराध पर पर्दा डालने के लिए। खुदकुशी की खुद को जिन्दा रखने के लिए।⁽⁶⁾ गयादत बच गया और आत्मन मर गया। यहीं से शुरू होती है अपने विवेक, बुद्धि, अहसासों, आकांक्षाओं, इच्छाओं और भावों की हत्या। शायद इसी आत्महत्या में छिपी है, वर्तमान मनुष्य की सफलता की कुंजी। क्योंकि गयादत के जन्म और जिंदा रहने से कहीं अधिक आवश्यक है, आत्मन का कत्ल अन्यथा सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व और द्वेष का पात्र बनना पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में व्यक्ति एक ऐसी गुमनाम सभ्यता में जी रहा है, जो स्वयंपरक और सर्वहितकारी जीवन कला की दायवेदार न होकर केवल आत्मविरोध और निजी लड़ाइयों की मोहताज है। व्यक्तित्व के निर्माण हेतु व्यक्ति का बलिदान आवश्यक है और निजपन की तलाश में उस शहीद व्यक्ति के शव का बोझ ढोना जरूरी है, तो ऐसी अवस्था में हम किस आकाद भारत की बात करते हैं? शायद उस आकादी की जिसने ‘जीने की चाह’ को जिंदगी से छीन लिया और ‘मर-मिटने’ के गर्मजोश उत्साह को मसलन ही टंडा कर दिया। सरकारी नौकरी, राजनीति और दुनियादारी के संकीर्ण मानदण्डों में लिपटी आधुनिक अभिमन्यु की यह गाथा एक साथ क्रूर और त्रस्त है। आत्मन की मृत्यु के बाद (गयादत के रूप में) राजन को पत्नी का स्वर सुनाई पड़ता है, “हमें चुपचाप आँखें मूँदे अपने रास्ते पर चले जाना है। कमिश्नर की ‘बेसिक पे’ ढाई हजार से शुरू होती है। इन्हें कम से कम ज्वाइंट सेक्रेटरी तक

पहुँचना है। साढ़े तीन हकार तनखाह पर पहुँचकर ये रिटायर्ड होंगे। तब तक कम से कम ढाई लाख हमारा प्रॉविडेंट फंड होगा। इन्हें सात सौ रुपए महीना पेंशन मिलेगी और आप जानते हैं रिटायर्ड होने के बाद कोई घर नहीं बैठता। यह किसी बोर्ड के फाइनेंस एडवाइकार, नहीं तो किसी यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर।⁽⁶⁾

कहीं-न-कहीं, जाने अनजाने ही सही राजन अब उस बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व बन गया है, जो ऊपरी स्तर से व्यवस्था के विरोध का करता है, लेकिन भीतर से उसका अटूट अंग होता है। वास्तविकता तो यह है कि राजन का ऐसा होना में उसका दिखावा या मात्र बनावटीपन नहीं, बल्कि सामाजिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के आड़े उसकी व्यक्तिगत बेबसी है।

नाटक चरण-दर-चरण कई गंधली-धुंधली परतों को साफ करता चला जाता है। नौकरशाही के नाम पर लोकतंत्र का डंका बजाने वाली भारतीय प्रणाली का भी बड़े सटीक शब्दों में निरूपण किया है। आत्मन के शब्दों में ही — “नौकरशाही पर खड़ा हुआ प्रजातंत्र कितना खोखला और बेमानी होता है। यह एक बिल्कुल नयी साम्प्रदायिकता है, जो एक नये ‘फासिज्म’ को जन्म देती है।⁽⁷⁾ उसके इस कथन का प्रमाण उसी के कहे शब्दों में साफ झलकता है, जब वह राजन को केजरीवाल और गयादत के खिलाफ सबूत लाकर देने की बात कहता है — “आपको उन दोनों के खिलाफ कोई सबूत चाहिए था न, ये लीजिए केजरीवाल ने मुझे अपनी मिल में ‘ऑनरेरी लेबर एडवाइकार’ की पोस्ट ऑफर की थी — ‘मोस्ट कान्फीडेंशली’ तीन हकार रुपए महीने आनरेरियम.... और यह देखिए गया दत्त जी का कमाल— यह गुप्ती चिट्ठी उन्होंने अपने एक खास आदमी को दी थी, मेरी हत्या कर देने के लिए। संयोग से वह आदमी मेरी लेबर यूनिशन के एक मेम्बर का दोस्त निकाला।⁽⁸⁾ कहना न होगा कि यह हमारी स्वतंत्र भारतीय शासन प्रणाली और उसको शासकों की सच्ची तस्वीर है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ‘मिस्टर अभिमन्यु’ उस तत्कालीन व्यवस्था तंत्र का खुला प्रस्तुतीकरण है, जो वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन की सतह के नीचे छिपी संस्कारहीन अथवा आरोपित सांस्कृतिक चेतना को पूरी तरह समर्पित है। नाटक में अलग-अलग प्रवृत्ति के पात्र मिलकर उस सामाजिक राजनीतिक धरातल का निर्माण करते हैं जिस पर कहीं झूठी प्रतिष्ठा का मोह पनप रहा है, कहीं वैभव प्रदर्शन की लालसा है, कहीं मूल्यों और संस्कारों के प्रति हास्यपद लेकिन रुदन स्थिति उत्पन्न हो रही है, कहीं आत्म की स्तुति केवल भर्त्सना लगती है, तो कहीं भौतिकता केवल मनोबल बन बैठी है, जिस पर सॉस लेने को आज का व्यक्ति बाध्य है। कुल मिलाकर यह नाटक जीवन की द्वन्द्वमूलक स्थिति और बौद्धिकता के तले दबती मानसिकता की चीत्कार है, जो पूर्णरूपेण समकालीन परिवेश का जीवंत दस्तावेज है।

संदर्भ :

- (1) अशोक बाचुलकर (उद्धृत) (2012) : डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के मिथक नाटक, गाजियाबाद, मीनू पब्लिकेशन्स, पृ. 15.
- (2) लाल, लक्ष्मीनारायण (1994) : मिस्टर अभिमन्यु, नोएडा, मयूर पेपरबैक्स, पृ. 70.
- (3) वही, पृ. 40-41.
- (4) वही, पृ. 44-45.
- (5) वही, पृ. 73.
- (6) वही, पृ. 68.
- (7) वही, पृ. 64-65.
- (8) वही, पृ. 63.





महाश्वेता देवी : जनजातियों व आदिवासियों के जीवन पर केन्द्रित रचनाधर्मिता

महाश्वेता देवी प्रारंभ से ही जनजातियों व आदिवासियों के जीवन पर केन्द्रित रही हैं। उनकी समूची रचनाधर्मिता की ताकत भी इसी पर केन्द्रित है। प्रस्तुत शोधपत्र महाश्वेता देवी की रचनाधर्मिता में जनजातियों व आदिवासियों के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है। वे स्वयं स्वीकारती हैं कि अनुसूचित जातियों में समाज व स्वयं पीड़ित जातियों में परिवर्तन तो आया है, परन्तु वह बात अभी भी नहीं है, जिसकी आवश्यकता है। जिस बात की आवश्यकता है, उसी को महाश्वेता देवी ने केन्द्र में रखा है और लिख रही हैं। उनके लेखन में आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में दलित समाज और अभिजात्य वर्ग द्वारा दी जाने वाली प्रताड़ना प्रमुख रूप से मिलती है। लेखिका अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के व्यापक अर्थ को अपने लेखन के केन्द्र में रखती है। यही कारण है कि महाश्वेता देवी ने कम समय में जो ख्याति अर्जित की, वह बिरले ही देखने को मिलती है।

अपराजिता सिंह

बंगाल के यशस्वी साहित्यकारों में महाश्वेता देवी की अपनी एक विशिष्ट पहचान है तथा उनके द्वारा रचित साहित्य बांग्ला का उत्कृष्ट साहित्य है। आपने अपनी कई श्रेष्ठ कृतियों से बांग्ला साहित्य को समृद्ध किया है। महाश्वेता व उनके साहित्य का सरोकार सदैव आम-जन से ही रहा है। उन्होंने आम-जन की समस्याओं को बहुत करीब से जाना-समझा व उन्हें अपने कथा साहित्य का आधार बिन्दु बनाया। महाश्वेता देवी न केवल एक महान लेखिका थीं, अपितु वंचित लोगों के हकों के लिए लड़ने वाली सामाजिक कार्यकर्ता भी थीं। वे वर्षों तक बंगाल, बिहार और झारखण्ड के घने आदिवासी क्षेत्रों में रहीं, जनांदोलनों में भागीदारी की, इस कारण जमीनी हकीकत को सहजता के साथ, उकेर पाने की जो सहजता उनके लेखन में थी, वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती है।

“मैं साठ के दशक से ही आदिवासी अंचलों में जाती रही हूँ। पलामू के मैक्लुक्सीगंज से शुरू हुई वह यात्रा, पुरुलिया के छिड़िया शबर होते हुए गुजरात और महाराष्ट्र के घुमंतू गैर आदिवासी आदिवासियों तक अविराम चलती रही।”⁽¹⁾ महाश्वेता देवी के उक्त कथन आदिवासियों के प्रति उनके अविराम संघर्ष को व्यक्त करते हैं। उनका मानना था कि जितना वे आदिवासियों के करीब गईं उतना ही वे उनके संघर्ष से जुड़ती गईं। रक्तचाप व मधुमेह से पीड़ित होने के बावजूद भी महाश्वेता ने जनांदोलनों में बढ़-चढ़कर अपनी मौजूदगी दर्ज करायी विभिन्न आदिवासी नेताओं के साथ मिलकर न केवल कार्य किए, बल्कि मंत्री व अधिकारियों को पत्र लिखकर अरण्यजीवियों की समस्याओं से अवगत भी कराया। महाश्वेता देवी अपने एक स्तम्भ में लिखती हैं कि “लालगढ़ के जंगलपुत्रों ने

कोलकाता की रैली में बताया कि उन्हें जनसंघर्ष की प्रेरणा सीधू कानू और बिरसा मुंडा से लेकर पुरुलिया की छिड़िया शबर कल्याण समिति के नेता प्रशांत रक्षित जैसे नायकों से मिलती है। आज भी आदिवासी उन्हीं प्रेरणाओं से अपने हक के लिए लड़ते हैं और उस लड़ाई के समानान्तर अपने पिछड़े हुए समाज को आगे ले जाने के लिए कई एक रचनात्मक कार्य भी करते हैं।”⁽²⁾ आदिवासी बहुल क्षेत्रों में अवैध रूप से जमीन दखल का खेल एक विकराल समस्या बन चुका है। जिसमें राज्य सरकारें भी अपनी रोटियाँ सेंकती नजर आती हैं। सिंगुर का जमीन अधिग्रहण मामला सर्वविदित है, जिसमें राज्य सरकार आदिवासियों की भूमि पर जबरन अधिग्रहण कर टाटा समूह को देना चाहती थी। यह स्थिति न केवल पश्चिम बंगाल में व्याप्त है, अपितु उड़ीसा, झारखण्ड के आदिवासी भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। महाश्वेता देवी की लेखनी अन्याय, शोषण व वंचितों के हक के लिए निरन्तर संघर्ष करती रही है। महाश्वेता देवी का उद्देश्यों आदिवासियों को उनके मूलभूत अधिकार दिलाना है, ताकि वे एक सामान्य जीवन जीने के साथ समाज से भी जुड़ सकें। राज्य सरकार द्वारा सिंगुर में आदिवासियों की पाँच फसली भूमि पर जबरन अधिग्रहण किये जाने पर वे अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं— “हुगली के सिंगुर की 1000 एकड़ जमीन गैर कानूनी तरीके से अधिगृहीत कर राज्य सरकार उसे टाटा समूह को देना चाहती है। सिंगुरवासी किसी भी कीमत पर अपनी पाँच फसली जमीन नहीं देना चाहते, क्योंकि वह सिर्फ जमीन नहीं उनकी जीविका है और जीवन भी।”⁽³⁾ भूमि अधिग्रहण के परिणामस्वरूप आदिवासियों के पुर्नवास व रोजगार देने की योजनाएँ कितनी लोभी व पाखण्डपूर्ण हैं, इसकी

सच्चाई स्वयं राज्य सरकार व उसके राजनेता जानते हैं। महाश्वेता लिखती हैं “सिंगुर में जिनकी जमीन ली जा रही है, उन्हें पर्याप्त मुआवजा नहीं दिया जा रहा है। जिन लोगों की 1000 एकड़ जमीन ली जा रही है, उनसे 11 हजार लोगों की जीविका जुड़ी है। यह अधिकाधिक तौर पर बताया जा रहा है। मुझे लगता है कि उस जमीन से जुड़े बटाईदारों से लेकर खेत मजदूरों की संख्या 11 हजार से भी ज्यादा है, पर राज्य सरकार इनमें सिर्फ 800 लोगों के पुर्नवास की व्यवस्था कराएगी, बाकी लोग कहाँ जाएंगे ?”⁽⁴⁾ महाश्वेता पूछती हैं “क्या आजीवन अवहेलित रहना ही आदिवासियों की नियति है? यह तथ्य मुझे बहुत पीड़ा पहुँचाता है कि वाममोर्चा भी आदिवासियों के प्रति असहिष्णु रहा है। पश्चिम बंगाल के वाम राज में भी बड़े संग्रामी नेता भी इसलिए उपेक्षित रहे, क्योंकि वे आदिवासी थे।”⁽⁵⁾ सरकार के प्रति महाश्वेता देवी के मन में पर्याप्त आक्रोश है, क्योंकि आदिवासी—जन आज भी अपनी मूलभूत आवश्यकताओं—भोजन, जल, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी जैसी जरूरतों से दूर हैं। आजादी के इतने सालों बाद भी आदिवासी अंचलों में विकास का कार्य क्यों नहीं हो सका है? अरण्य पर से अरण्यजीवियों के स्वाभाविक अधिकार किसने छीने? पंचायतें आदिवासियों में शराब की लत क्यों लगवा रही हैं? क्यों, आदिवासियों को विभिन्न परियोजनाओं जैसे—इंदिरा आवास योजना, जवाहर रोजगार योजना, शिशु स्वस्थ केन्द्र व विकास केन्द्र और साक्षरता केन्द्र का लाभ नहीं मिलता है? प्रिमिटिव सब ट्राइब के नाम पर आदिवासी विकास के लिए जो पैसा आता है, वह कहाँ चला जाता है? ऐसे अनगिनत प्रश्न महाश्वेता देवी को सदैव विचलित करते रहे हैं। इसी प्रकार आदिवासियों को अपराधी होने के कलंक का निर्वहन करना पड़ता है। अपराध—प्रणव जनजातियों को लम्बे समय के अन्तराल के पश्चात् इस कलंक से मुक्त तो कर दिया गया है, परन्तु आज भी उनके साथ उसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाता है। महाश्वेता लिखती हैं, “देश में आज भी छह करोड़ आदिवासी ऐसे हैं, जिन्हें अपराधी होने का कलंक नाहक ढोना पड़ रहा है। ब्रिटिश सरकार ने भारत की कई जनजातियों को ‘1871’ में अपराध—प्रणव घोषित किया गया था। आजादी मिलने के पाँच साल बाद 1952 में कानून द्वारा उन्हें इससे मुक्त कर दिया गया पर व्यवहार में आज भी उन्हें क्रिमिनल ट्राइब ही माना जाता है।”⁽⁶⁾ महाश्वेता देवी ने गुजरात, महाराष्ट्र से लेकर देशभर में व्याप्त ऐसे अपराधी आदिवासियों के लिए 1998 में एक अखिल भारतीय संस्था—डिनोटीफाइड एंड नोमेडिक ट्राइब राइट एक्शन ग्रुप (डीएनटी रैग) बनाकर संघर्ष किया।

भारतीय समाज एक बहुलक समाज है, जिसकी विविधता विभिन्न सामाजिक समूहों के आधार पर परिलक्षित होती है। जाति, प्रजाति, जनजाति, धर्म, भाषा, लिंग आदि विविध आधारों पर भिन्नताएँ भारतीय समाज की विशिष्टताएँ हैं। महाश्वेता देवी ने अनुसूचित जातियों की पीड़ा, दर्द व इन पर होने वाले अत्याचारों का बेबाक रूप से अपने उपन्यासों में उल्लेख किया है। दलित—जन आज भी असहिष्णु समाज के शिकार हैं। ‘मास्टर साब’ उपन्यास के मास्टर साब (जगदीश महतो) हरिजनों की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहते हैं—“जात-पाँत की वजह से जुल्म तो ढाया ही जाता है, लेकिन असली कारण कहीं और है—?” “सचमुच, यह तो सोचने वाली बात है।” “समाज तो वहीं का वहीं रह जायेगा, भले ही हरिजन मालिक

बन बैठे और ऊँची जाति वाले खेत—मजदूर बन जाएँ.... जुल्म तो तब भी होता रहेगा।”⁽⁷⁾

महाश्वेता यह भी स्वीकारती हैं कि अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में समाज व स्वयं पीड़ित जातियों में परिवर्तन तो आया है परन्तु व्यापक रूप से नहीं। ‘हीरो—एक ब्लू प्रिंट’ का हीरो कहता है कि यदि उन (निम्न जाति) लोगों को जिन्दा रहना है, तो लड़ना ही होगा। अब वे लोग किसी के पाँवों की जूती नहीं रह गए हैं तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बन रहे हैं। आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में दलित समाज, अभिजात्य वर्ग द्वारा प्रताड़ित है। इसी श्रेणी में आदिवासी—जन भी आते हैं, जो आज भी सभ्य समाज की मूलधारा से कटे हुए हैं। ‘अनुसूचित जनजाति को आदिवासी, आदिम जाति, गिरिजन आदि नामों से भी पुकरा गया है। संविधान के अनुच्छेद 342 (1) के अन्तर्गत 1950 में राष्ट्रपति द्वारा जारी अनुसूचित जनजाति आदेश में भारत के 212 आदिवासी समूहों को अनुसूचित जनजाति में सूचीबद्ध किया गया है। कालान्तर में संसद के अधिनियम के माध्यम से कुछ अन्य आदिवासी समूहों को भी अनुसूचित जनजाति की सूची में शामिल किया गया।”⁽⁸⁾ महाश्वेता देवी ने जंगलपुत्रों के कष्टों को न केवल देखा, बल्कि स्वयं उनके साथ रहकर उनके दर्द को महसूस भी किया तथा आगे बढ़कर उनकी मूलभूत आवश्यकताओं को जाना व राज्य सरकार को उनके कष्टों से अवगत कराने के सार्थक प्रयास भी किये। महाश्वेता सदा से ही समाज के उपेक्षित व वंचित वर्गों के लिए संघर्ष करती रहीं। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि महाश्वेता देवी का उपेक्षित वर्गों के लिए संघर्ष केवल लेखन तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु अपने जीवन के कई दशक उन्होंने अस्पृश्य जातियों, आदिवासियों व जनजातियों की स्थिति को सुधारने हेतु किये गये प्रयासों को अपना सक्रिय समर्थन दिया। उनकी कृतियों में आदिवासी जीवन के संवेदनात्मक शोषण के कई परिदृश्य हमें आदिवासी जीवन के और भी निकट ले आते हैं। महाश्वेता देवी की कृति ‘जंगल के दावेदार’ में मुण्डा आदिवासियों पर सरकार द्वारा किये गये अत्याचारों को देख बीरसा का हृदय दुख से भर उठता है—“मुण्डा देश की छाती पर सेना—पुलिस—राजा के हाथी का मदमत्त अभियान चल रहा था। होली के बाद जिस तरह मुण्डा धर्म के अनुसार शिकार पर जाते थे, सरकार उसी तरह मुण्डा के गाँवों और धान के खलिहानों को जलाकर होली की आग जला रही थी—बीरसा और बीरसाइतों को जंगल छानकर निकाल पकड़ने के उत्सव में दीवानी हो रही थी। केवल इस बार उत्सव का नाम था रक्तोत्सव।”⁽⁹⁾ जंगलों की माँ की तरह पूजा करने वाले, अमावस की रात के अंधेरे से भी काले—और प्रकृति जैसे निष्पाप—मुंडा, हो, हूल, संधाल, कोल और अन्य बर्बर, असभ्य जातियों द्वारा शोषण के विरुद्ध व जंगल के अधिकार को वापस लेने के संघर्ष को महाश्वेता देवी ने ‘जंगल के दावेदार’ में स्पष्टतः उकेरा है। ‘अग्निगर्भ’ में बसाई भारत के संविधान पर कटाक्ष करते हुए काली साँतरा से कहता है, “हरिजन अत्याचार निवारिणी संस्था—भारत के संविधान में छूट—अछूत और जाति भेद नहीं है। लेकिन ऊँची जाति के सिवा नीची जाति वालों को दिन के अन्त में आज भी अन्न, सिर पर पत्तों की छत नहीं मिलती।”⁽¹⁰⁾ महाश्वेता देवी ने आदिवासियों की पीड़ा और उन पर होने वाले अत्याचारों ने उन्हें मौन प्रशासन के विरुद्ध विद्रोह की

प्रेरणा दी। महाश्वेता देवी अपने एक लेख में लिखती हैं कि – “राहत की बात है कि अब आदिवासी शोषण के ढांचे को तोड़ने के लिए जाग रहे हैं और उन गुलाम की परम्परा को आगे नहीं बढ़ा रहे हैं और उसी के समानांतर अपने समुदाय के कल्याण के लिए रचनात्मक कार्य भी कर रहे हैं।”⁽¹²⁾ समय परिवर्तन के साथ-साथ आदिवासी भी धीरे-धीरे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रहे हैं। लालगढ़ में आदिवासियों पर हुई पुलिस ज्यादती के खिलाफ वहाँ के जंगलपुत्रों ने 2008 में ‘संत्रास विरोधी जनसाधारण’ का गठन कर आन्दोलन छेड़ दिया था। महाश्वेता देवी लिखती हैं— “अरण्य को, जीवन जगत को, नदी व झरने के जल को बचाने के लिए ही आदिवासी कोलों, संथालों और मुंडाओं ने – मेरे बिरसा मुंडा ने विद्रोह किया। जल-जंगल-जमीन को बचाने और उन पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए उन आदिवासी विद्रोहों की ही अगली कड़ी चिपको आन्दोलन से जुड़ती है।”⁽¹³⁾ आदिवासियों के समान दलितों पर होने वाले अत्याचारों के विषय में महाश्वेता देवी लिखती हैं कि— “मैं बंगाल में भी निरन्तर महसूस करती हूँ कि यहाँ वामशासन में भी दलित समस्या है। वाम राज्य में ही दलित कन्या चुनी कोटाल को मरने को बाध्य किया गया था। उसे इसलिए उच्च शिक्षा से वंचित करने की साजिश रची गई, क्योंकि वह दलित थी।”⁽¹⁴⁾ महाश्वेता देवी बिहार में आदिवासियों के घटते हुए आँकड़ों की स्थिति दर्शाती हैं, जिसके फलस्वरूप बिहार में 1961 में आदिवासियों की जो आबादी 9.41 प्रतिशत थी, वह 1981 में घटकर 8.31 प्रतिशत हो गई। आबादी घटने और जल-जंगल-जमीन से आदिवासियों के बेदखल होने की घटनाएँ पूरे देश में हो रही हैं। बंगाल से लेकर गुजरात-महाराष्ट्र में महाश्वेता देवी ने इस समस्या को महसूस किया। महाश्वेता देवी सदैव अपनी रचनाओं के माध्यम से यह बताने का प्रयास करती रहीं हैं कि किस तरह अरण्यजीवियों का जीवन पहले से ज्यादा क्रूर, कठोर और जटिल होता गया है। जहाँ महाश्वेता ने सदियों से उत्पीड़ित आदिवासियों की व्यथा कथा को अपने उपन्यासों का कथ्य बनाया, वहीं जनजातियों और आदिवासियों के विद्रोही नायकों को अपने कथा साहित्य का नायक। वे अपनी अन्तिम साँस तक सरकार के विरुद्ध आदिवासी जन की परोकार बनी रहीं।

28 जुलाई 2016 को बांग्ला साहित्य की अनन्य विभूति व सामाजिक कार्यकर्ता महाश्वेता देवी महाप्रस्थान कर गईं। उनका निधन न केवल बांग्ला साहित्य के लिए अपितु भारतीय साहित्य के लिए एक बड़ी क्षति है। वहीं अरण्यजीवियों ने अपनी माँ को खो दिया है। उन्होंने कहीं लिखा था कि “एक लंबे अरसे से मेरे भीतर जनजातिय समाज के लिए पीड़ा की जो ज्वाला धधक रही है, वह मेरी चिता के साथ ही शांत होगी।”⁽¹⁵⁾ उनका कथन अक्षरशः सही सिद्ध हुआ। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन जनजातीय व आदिवासी समाज को समर्पित कर दिया।

संदर्भ :

- (1) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), रवि 21 दिसम्बर 2008, पृ 12.
- (2) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), रवि 21 दिसम्बर 2008, पृ 12.
- (3) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 10 नवम्बर 2006, पृ 12.

- (4) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 10 नवम्बर 2006, पृ 12.
- (5) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 11 अप्रैल 2010, रवि 14.
- (6) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 28 मार्च 2010, पृ 12.
- (7) तिवारी, प्रो० जयकान्त : भारत का समाजशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ 114.
- (8) देवी, महाश्वेता : मास्टर साब, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ 82.
- (9) तिवारी, प्रो० जयकान्त : भारत का समाजशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, पृ 119.
- (10) देवी, महाश्वेता : जंगल के दावेदार, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पृ 240.
- (11) देवी, महाश्वेता : अग्निगर्भ, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पृ 57.
- (12) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 21 दिसम्बर 2008, रवि, पृ 12.
- (13) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 12 जुलाई 2009, रवि, पृ 12.
- (14) देवी, महाश्वेता : हिन्दुस्तान (पत्र), 19 जुलाई 2009, रवि, पृ 12.
- (15) शंभुनाथ : अमर उजाला (पत्र), 29 जुलाई 2016, शुक्र, पृ 6.





एकांत श्रीवास्तव की कविताओं में लोक-राग

प्रस्तुत शोधपत्र में एकांत श्रीवास्तव की कविताओं में लोक-राग का अध्ययन किया गया है। यूं भी एकांत श्रीवास्तव की दृष्टि से जीवन का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा है। उन्होंने अपने जीवन, समाज और समाज के सभी तबकों और उनके दुःख-दर्दों पर बारीकी के साथ अध्ययन किया और पूरी संवेदना के साथ जो कुछ भी लिखा, वह उनकी कविताओं की शक्ति बन गया। यूं भी लोक-जीवन की जब चर्चा होती है, तो फिर हम लोक-साहित्य की ओर लौटते हैं। लोक-साहित्य के अनाम रचनाकारों ने वही जीवन जिया और उसे ही गुनगुनाया और गाया है। इस सच के बावजूद एकांत श्रीवास्तव ने लोक को लेकर जो लिखा है, उसकी भाषा-शैली सरल, सहज और लोक की भाषा के अति निकट है। उसमें एक लय है, प्रवाह है और संदेश है।

डॉ. वंदना कुमार* एवं श्रीमती रीतू होता**

प्रस्तावना :

समकालीनता समसामयिक जीवन—संदर्भों और स्थितियों की चेतना को प्रमाणिक रूप में उद्घाटित करती है। आज के रचनाकार समकालीन जीवन की विभिन्न स्थितियों, संदर्भों, विडंबनाओं एवं अंतर्विरोधों को समस्या के रूप में ग्रहण न कर बोध के स्तर पर ग्रहण करते हैं व उनकी रचना—धर्मिता यथार्थ के विस्तृत धरातल पर पल्लवित होते हैं। बीसवीं सदी के अंतिम दशक से अपनी काव्य—यात्रा आरंभ करने वाले कवि एकांत श्रीवास्तव समकालीन परिदृश्य के ऐसे ही प्रतिष्ठित रचनाकार हैं, जिनके कवि—कर्म में निज अनुभव की प्रमाणिकता और सामाजिक—यथार्थ की विडंबना अकृत्रिम सार तत्व के साथ उपस्थित हुई है। उनकी रचनाधर्मिता एक ओर छत्तीसगढ़ की लोकजीवन—शैली, प्रेम, करुणा, आस्था, उत्सव, लोक—रागात्मकता की जीवंत अभिव्यक्ति है, तो दूसरी ओर झूठे आश्वासन के पिटारे के सहारे पैर जमाये राजनीतिक व्यवस्था और भूमण्डलीय बाजार की विषमता को उजागर करती उपस्थित है। पिछले दिनों हिंदी में उभरी लोक—राग की काव्य—प्रवृत्ति को प्रतिष्ठित करने में जिन कवियों का योगदान रहा है, उनमें एकांत श्रीवास्तव भी एक हैं।

समकालीन कविता के रागात्मक ऐश्वर्य का स्रोत लोक—सामुदायिकता में हैं। साहित्य की लोक—चेतना इतनी ही प्राचीन है जितना की आदिमानव। उसमें रागात्मक पक्ष उसे मुख्य बनाता है। अनुभव की देशज भूमि को कविता के बुनियादी आधार की तरह बरतते हुए कवि ने अपना काव्य—संसार रचा है।

देश के ऐसे बहुत से कवि हैं, जिन्होंने गाँवों से शहरों की ओर रुख किया और शहर के ही होकर रह गए, परंतु एकांत श्रीवास्तव बार—बार गाँव की ओर मुड़ते हैं। गाँव के प्रति कवि का मोह उनके हृदय में ही नहीं, बल्कि उनके कवि—कर्म में भी पूर्णतः अभिव्यक्त होती है। उनकी कविता लोकरंग में पगी हुई हैं। लोक—गंध व लोक—सौंदर्य उनकी कविता का मुख कथ्य है। उनका यह काव्य—लोक केदारनाथ सिंह जी से बहुत कुछ मिलता है।

कविताओं में उनकी यह काव्य—दृष्टि ही है कि जो ज़मीन को

स्लेट, फूल और गीत में रूपांतरित करती है, जो सूर्य का उगना भी देख पाती है और बसंत का आगमन भी, लौटती बैलगाड़ी और एक बीज की आवाज भी—

*“बारिश की पहली फुहार की ऊँगली पकड़कर
मैं बाहर आऊँ / तुम्हारी दुनियाँ में।” (1)*

यह उनकी लोकधर्मिता ही है कि वे किसी—न—किसी रूप में मिट्टी से बँधे रहना चाहते हैं। उनके काव्य—संग्रहों के नाम को ही हम देखें तो पता चलता है कि वे अन्न, मिट्टी, बीज से फूल तक और फिर धरती को अधखिला फूल कहते हैं। यह कहते हुए वे धरती में विकास की असीम संभावनाओं को व्यक्त करते हैं—

*“यह जीवन है घास की तरह/ नष्ट होने से इंकार
करता हुआ/ फूल और इच्छा और स्वप्न से भरा हुआ।” (2)*

अपने पूर्व कथन (काव्य—संग्रह ‘धरती अधखिला फूल है’) में कवि का कहना है कि धरती जितनी बाहर होती है उतनी ही वह हमारे भीतर भी होती है। किसी और भूमि पर किसी और भूमि के सुवास से हमारी सांसें महकती रहती हैं।

प्रतिष्ठित आलोचक ओम निश्चल ने अपने एक लेख में कहा था— “एकांत श्रीवास्तव मार्मिकता के कवि हैं। नवें दशक के कवियों की कविताओं में लोक—वार्ताओं की सी झलक एकांत श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय और बद्रीनारायण की कविताओं से ही मिलनी शुरू हुई। आज भी एकांत श्रीवास्तव की अस्थि—मज्जा में लोक—जीवन के प्रति ममत्व धड़कता है। वे अपने समकालीनों में बिल्कुल अलग हैं, उन्हें पढ़ते हुए लगता है इस कवि का लालन—पालन लोक—गीतों की उर्वर उपत्यका में हुआ है।” (3)

कवि समकालीन कविता की दुनिया में निरंतर अपने समय—समाज के सुख—दुख, हँसी—खुशी, चीख—चीत्कार, करुणा, असह्य वेदना, भूख, गरीबी आदि भावों के साथ ही मनुष्य का आंतरिक संसार किस प्रकार सिमट गया है, उन सबको वे अपनी कविता में चिन्हित करते हैं। मिट्टी की गंध से उनकी कविता की ज़मीन उर्वर होती है।

* सहायक प्राध्यापक (हिन्दी विभाग), शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़)

** शोधछात्रा, साहित्य एवं भाषा अध्ययनशाला, पं.रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़)

**“भूखे लोगों के पड़ाव में / खौलता हुआ अधहन
जिस समय माँगेगा अन्न/उसी समय पैदा होगी
कविता की जरूरत।” (4)**

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने अपने लेख में लिखा है, “एकांत महज किसान को नहीं, अन्न को भी स्वर देने वाले कवियों में से हैं। वे जिस ढंग से अपने समय और समाज की विडम्बना की पहचान करते हैं, वह उन्हें अपने समकालीनों में विशिष्ट बनाता है।” (6)

एकांत श्रीवास्तव की कविता मध्यमवर्गीय चेतना विहीन सौंदर्य-बोध के स्थान पर नयापन लिए गतिशील और लोकधर्मी सौंदर्य-बोध सृजित करती है। इसलिए उनकी कविता लोकधर्मी प्रतिमानों से सृजित होती है। उनकी कविता में वृक्ष, वनस्पतियाँ, सड़कें, पगडंडियाँ, खेत-खलिहान, डोंगरी, कछार, टीले, नीम और मुनगा के फूल भी अपने कोमल आवाज और जीवंत रंगों के साथ अपनी सजीव उपस्थिति कराते हैं।

जीवन-संघर्ष को व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं :

**“जीने के लिए इस संसार में/रोज लोहा लेना पड़ता है
एक लोहा रोटी के लिए लेना पड़ता है/
दूसरा इज्जत के साथ /उसे खाने के लिए।” (6)**

एकांत श्रीवास्तव लोक के आंतरिक संघर्ष का कल्पलोक निर्मित करते हैं, जहाँ मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य है, उनके दुख, करुणा, शोक, असह्य पीड़ा, सुख की आशा को अंतर्धारा के रूप में महसूस किया जा सकता है। उनका रचना-संसार समाज के उपेक्षित और पग-पग पर अपमानित आमजनों का संसार है, जहाँ सिक्के गिनते भिखारी हैं, बुनकर की आत्महत्या की पीड़ा है, उपयोगी वृक्ष के बदले बबूल के सघन वन हैं तथा कुछ लोग बिना टिकिट के गिड़गिड़ाते यात्रा करने को मजबूर हैं। इन सब के बावजूद कवि जीवन-सौंदर्य की अनुभूति कराते हुए कहते हैं—

**“शब्द सुंदर नहीं है / भूख से लड़ने की इच्छा /
सुंदर है।” (7)**

एकांत श्रीवास्तव सही अर्थों में लोकधर्मी भारतीय हैं, जिनकी जड़ें अपने जनपद से जुड़कर वैश्विक बनती हैं। इनकी कविता के शीर्षक चरित्र महज चरित्र नहीं हैं, बल्कि जीवन के बदरंग यथार्थ को व्यक्त करने का माध्यम हैं। इनकी कविताओं में उपस्थित जीवन-संघर्ष बहुत ही कलात्मक रूप में उद्घाटित होता है।

उन्होंने देवार जनजाति के बहाने छत्तीसगढ़ के कौंदकेरा, जतमई, सोनडोंगरी, भीमखोज, कुसुमपानी और आस-पास के पूरे जनपद की विडंबना को बताया है, जहाँ—

**“कुछ नहीं उगता/केवल भूख उगती है/धारदार
सरपत की पत्तियों सी।” (8)**

भूख की यह विकराल भीमकाय समस्या सिर्फ देवार जनजाति और उस जनपद की न होकर आज भी देश के अधिकांश पिछड़े और सुदूर अंचलों की समस्या है, जहाँ विकास की छाया भी नहीं पड़ी है।

एकांत श्रीवास्तव की कविता का फलक अत्यंत व्यापक है। एकांत जी निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की परंपरा के सशक्त कवि हैं। वे आज भी कवि-कर्म में रत हैं और निर्द्वंद्वहोकर अपना पक्ष जनता के समक्ष रख रहे हैं, क्योंकि उनका गहरा रिश्ता भारतीय लोक और जन-मानस से बना हुआ है। सही अर्थों में वे लोकधर्मी कवि हैं।

समीक्षक भोला प्रसाद सिंह ने अपने लेख में लिखा है—

“एकांत श्रीवास्तव की कविताओं में अभिधा सौंदर्य है। यहाँ सहजता ही आत्मा है। संश्लिष्ट बिंबों का कोई अतिशय नहीं है, समाज का अभिजात्य तबका यहाँ एकदम नदारद है। वे अभिजात्य जीवन के कवि नहीं हैं, बल्कि ग्राम और शहरों में संघर्षरत भूख-प्यास से लड़ते लोगों की आवाज हैं।” (9)

एकांत श्रीवास्तव का कवि-कर्म लोक-समाज की संवेदनशीलता एवं रागात्मकता का सूत्र हमें देती है, जिनकी व्याप्ति हमें सिखाती है कि घर मात्र रहने का ठिकाना नहीं, बल्कि हमारी स्मृतियों और सपनों का संरक्षक है। श्रम से श्रेष्ठ सौंदर्य और कुछ नहीं, पसीना बहाकर उगाए अन्न से अनमोल धन दूसरा नहीं हो सकता।

जीवन का कोई भी कोना एकांत श्रीवास्तव की पैनी नज़रों से ओझल नहीं रह सका है। उनकी काव्य-भाषा सरल, सहज एवं मौलिक है, स्वतंत्र एवं प्रवाहपूर्ण है, जितनी की उनकी विचारधारा। भाषा-शिल्प, लोक-बोली की शब्दावलियों व मुहावरों से युक्त ऐसी संरचना है, जो अपने लोक-गंध के साथ अपनी मौलिक पहचान बनाती है। सरस भाषा में लिखी गई लोक-गंध से सुवासित एकांत श्रीवास्तव की कविता बार-बार हमारे अंतर्मन को भिगो जाएगी कभी करुणा से तो कभी निश्चल प्रेम से।

लोक-जीवन से लोक-चेतना, लोक-चेतना से साहित्य और साहित्य द्वारा लोक-मानस का परिष्कार कर लोक-जागरण का मार्ग प्रशस्त होता है। लोक-चेतना की अभिव्यक्ति साहित्य में ही संभव है और साहित्य किसी भी शर्त पर अपने युग की ‘लोक-चेतना’ से निरपेक्ष नहीं रह सकता। लोक-चेतना में लोक-संघर्ष, लोक-मंगल, लोक-कल्याण के साथ-साथ अत्याचार, अन्याय, शोषण और अमानवीयताओं का विरोध करने वाली भावनाएँ विद्यमान रहती हैं, जिनकी अभिव्यंजना एकांत श्रीवास्तव ने पूर्णतः ईमानदारी से अपनी कविताओं में किया है। उन्होंने अपने साहित्य-सृजन में लोक-जीवन की वास्तविकता को वरीयता प्रदान करते हुए अपने समय की समस्याओं एवं विषमताओं को वाणी दी। कविता में लोक-चेतना की अभिव्यक्ति कवि के संवेदनात्मक अनुभवों का परिणाम है। यह उनकी लोकधर्मिता है कि उनकी कविताएँ लोक-सौंदर्य का अप्रतिम संसार रचती हैं।

संदर्भ :

- (1) श्रीवास्तव, एकांत : एक बीज की आवाज पर, अन्न हैं मेरे शब्द, पृ. 133.
- (2) श्रीवास्तव, एकांत : धरती अधखिला फूल है, पृ. 94.
- (3) निश्चल, ओम : दुःख की सर्राण से, कोलकाता : जनसत्ता, 9 जून, 2013.
- (4) श्रीवास्तव, एकांत (2013) : कविता की जरूरत : अन्न हैं मेरे शब्द, सरसा साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बैक संस्करण, पृ. 111.
- (5) श्रीवास्तव, जितेन्द्र : कहीं थरथराता है उम्मीद का जल, पहल-88, मार्च-अप्रैल, 2008, पृ. 261.
- (6) श्रीवास्तव, एकांत : धरती अधखिला फूल है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 14.
- (7) श्रीवास्तव, एकांत (2013) : धरती अधखिला फूल है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 28.
- (8) श्रीवास्तव, एकांत (2009) : समय के खुरों से : नागकेसर का यह देश, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 25.
- (9) सिंह, भोला प्रसाद : इस बड़ी सभ्यता में कितनी कम जगह है हमारे लिए, कथादेश, अक्टूबर 2014, पृ. 85-86.

